श्रीहरिः

भारत-भारती

लेखक

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

प्रकाशक

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

दशम संस्करण] १९८६ [मूल्य १)

पक्की जिल्द का १॥)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

श्रीमान् राजा रामपालसिंहजी के. सी. आई. ई.

समर्पण

देश-हितैषी, विद्या-प्रेमी, लोक-प्रिय, उन्नतमना,

कुर्रीसुदौली के अधिपति,

माननीय

श्रीमान् राजा रामपालसिंहजी,

के. सी. आई. ई.

की

सेवा में—

होदय,

जैसा कुछ हो सका, आपका यह आज्ञा-पालन है, लीजे;
भारतमाता की सेवा में इसे आप ही अर्पित कीजे।
मेरी प्रभु से यही विनय है—स्वावलम्ब हम सबको दीजे,
माँ की इस सुख-दुःख-कथा से सब पुत्रों का हृदय पसीजे॥

मैथिलीशरण

श्रीरामः

प्रस्तावना

प्रिय पाठकगण,

आज जन्माष्टमी है। आज का दिन भारत के लिए गौरव का दिन है। आज ही हम भारतवासियों को यहाँ तक कहने का अवसर मिला था कि—

जय जय स्वर्गागार-सम भारत-कारागार।
पुरुष पुरातन का जहाँ हुआ नया अवतार॥

जब तक संसार में भारतवर्ष का अस्तित्व रहेगा तब तक यह दिन उसकी महिमा का महान् दिन समझा जायगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। आज भगवान् ने अपने उन वचनों की सार्थकता दिखाई थी जिन्हें आपने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को गीता का उपदेश करते हुए, प्रकट किया था—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

भला मेरे लिए इससे शुभ और कौन सा दिन होता कि मैं प्रस्तुत पुस्तक आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करने के लिए पूर्ण करूँ।

यह बात मानी हुई है कि भारत की पूर्व और वर्तमान दशा में बड़ा भारी अन्तर है। अन्तर न कह कर इसे वैपरीत्य कहना चाहिए। एक वह समय था कि यह देश विद्या, कला-कौशल्य और सभ्यता में संसार का शिरोमणि था और एक यह समय है कि इन्हीं बातों का इसमें शोच-नीय अभाव हो गया है। जो आर्य्यजाति कभी सारे संसार को शिक्षा

देती थी वही आज पद पद पर पराया मुँह ताक रही है! ठीक है, जिसका जैसा उत्थान उसका वैसा ही पतन!

परन्तु क्या हम लोग सदा अवनति में ही पड़े रहेंगे? हमारे देखते देखते जंगली जातियाँ तक उठ कर हमसे आगे बढ़ जायँ और हम वैसे ही पड़े रहें, इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है? क्या हम लोग अपने मार्ग से यहाँ तक हट गये हैं कि अब उसे पा ही नहीं सकते? क्या हमारी सामाजिक अवस्था इतनी बिगड़ गई है कि वह सुधारी ही नहीं जा सकती? क्या सचमुच हमारी यह निद्रा चिर निद्रा है? क्या हमारा रोग ऐसा असाध्य हो गया है कि उसकी कोई चिकित्सा ही नहीं?

संसार में ऐसा कोई भी काम नहीं जो समुचित उद्योग से सिद्ध न हो सके। परन्तु उद्योग के लिए उत्साह की आवश्यकता है, बिना उत्साह के उद्योग नहीं हो सकता। इसी उत्साह को, इसी मानसिक वेग को, उत्तेजित करने के लिए कविता एक उत्तम साधन है। परन्तु बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिन्दी में अभी तक इस ढङ्ग की कोई कविता-पुस्तक नहीं लिखी गई जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिए प्रोत्साहन भी। इस अभाव की पूर्ति के लिए, जहाँ तक मैं जानता हूँ कोई यथोचित प्रयत्न नहीं किया गया। परन्तु देशवत्सल सज्जनों को यह त्रुटि बहुत खटक रही है। ऐसे ही महानुभावों में कुर्रीसुदौली के अधिपति माननीय श्रीमान् राजा रामपालसिंहजी, सी० आई० ई० महोदय हैं।

कोई दो वर्ष हुए, मैंने 'पूर्वदर्शन' नामकी एक तुकबन्दी लिखी थी। उस समय चित्त में आया था कि हो सका तो कभी इसे पल्लवित

करने की चेष्टा भी करूँगा। इसके कुछ ही दिन बाद उक्त राजा साहब का एक कृपा-पत्र मुझे मिला, जिसमें श्रीमान् ने मौलाना हाली के मुसद्दस को लक्ष्य करके इस ढङ्ग की एक कविता-पुस्तक हिन्दुओं के लिए लिखने का मुझसे अनुग्रहपूर्वक अनुरोध किया। राजा साहब की ऐसी अभिरुचि देख कर मुझे हर्ष तो बहुत हुआ, पर साथ ही अपनी अयोग्यता के विचार से संकोच भी कम न हुआ। तथापि यह सोच कर कि बिलकुल ही न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, मैंने इस पुस्तक के लिखने का साहस किया।

श्री रामनवमी सं० १९६८ से आरम्भ करके भगवान् की कृपा से आज मैं इसे समाप्त कर सका हूँ। बीच बीच में, कई कारणों से महीनों इसका काम रुका रहा। इसीसे इसके समाप्त होने में इतना विलम्ब हुआ।

मैं नहीं जानता कि मैं अपने पूज्यवर श्रीमान् पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी महाराज और माननीय श्रीयुक्त "बार्हस्पत्य" जी महोदय के निकट, उनकी उन अमूल्य सम्मतियों के लिए, जिन्होंने मुझे इस विषय में कृतार्थ किया है, किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ सुहृद्वर श्रीयुक्त पण्डित पद्मसिंहजी शर्मा, राय कृष्णदासजी और ठाकुरतिलकसिंहजी का भी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरा उत्साह बढ़ा कर मुझे सहायता दी है। हाली और कैफ़ी के मुसद्दसों से भी मैंने लाभ उठाया है, इसलिये उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जिन पुस्तकों और लेखों से इस पुस्तक में नोट उद्धृत किये गये हैं उनके लेखकों के निकट भी मैं विशेष उपकृत हूँ।

मुझे दुःख है कि इस पुस्तक में कहीं कहीं मुझे कुछ कड़ी बातें लिखनी पड़ी हैं। परन्तु मैंने किसी की निन्दा करने के विचार से कोई

बात नहीं लिखी । अपनी सामाजिक दुरवस्था ने वैसा लिखने के लिये मुझे विवश किया है । जिन दोषों ने हमारी यह दुर्गति की है, जिनके कारण दूसरे लोग हम पर हँस रहे हैं, क्या उनका वर्णन कड़े शब्दों में किया जाना अनुचित है ? मेरा विश्वास है कि जब तक हमारी बुराइयों की तीव्र आलोचना न होगी तब तक हमारा ध्यान उनको दूर करने की ओर समुचित रीति से आकृष्ट न होगा । फिर भी यदि भूल से, कोई बात अनुचित लिख गई हो तो उसके लिये मैं नम्रतापूर्वक क्षमा-प्रार्थी हूँ ।

मैं जानता हूँ कि इस पुस्तक को लिख कर मैंने अनधिकार चेष्टा की है । मैं इस काम के लिये सर्वथा अयोग्य था । परन्तु जब तक हमारे विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि इस ओर ध्यान न दें और इस ढङ्ग की दूसरी कोई अच्छी पुस्तक न निकले, तब तक, आशा है, उदार पाठक मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगे ।

चिरगाँव (झाँसी)
जन्माष्टमी १९६९

मैथिलीशरण गुप्त

विषय-सूची

अतीत खण्ड

विषय	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१
उपक्रमणिका	,,
भारतवर्ष की श्रेष्ठता ...	४
हमारा उद्भव	५
हमारे पूर्वज	,,
आदर्श	७
आर्य्य-स्त्रियाँ	११
हमारी सभ्यता	१६
हमारी विद्या-बुद्धि ...	२७
हमारा साहित्य ...	३०
कला-कौशल	४४
हमारी वीरता	४९
शक्ति का उपयोग ...	५२
राजत्व और शासन ...	५३
प्राचीन भारत की एक झलक	५५
विचार	६६
महत्ता	,,
अवनति का आरम्भ ...	६८
महाभारत	,,
अनार्य्यों का आक्रमण ...	६९
अवतार	,,
बौद्धकाल	७०
जैनमत	७१
मतभेद	,,
हिन्दू-धर्म्म	७२
हिन्दू	,,
विकास और ह्रास ...	७३
मुसलमानों का प्रवेश ...	७४
यवनराजत्व	७५
आत्माभिमान	७९
यवनराजत्व का अन्त ...	८०
ब्रिटिश राज्य	,,
हमारी दशा	८१

वर्तमान खण्ड

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रवेश	८५	सङ्गीत	१२३
वर्तमान भारत	,,	सभाएँ	१२४
प्राचीन चिन्ह	८६	उपदेशक	,,
दारिद्रय	८७	धर्म्म की दशा ...	१२५
दुर्भिक्ष	,,	तीर्थ और तीर्थ-पण्डे ...	१२७
कृषि और कृषक ...	९१	मन्दिर और महन्त ...	१२८
गो-वध	९८	साधु-सन्त	,,
व्याधियाँ	१०२	ब्राह्मण	१२९
व्यापार	,,	क्षत्रिय	१३१
रईस	११०	वैश्य	१३२
रईसों के सपूत ...	११३	शूद्र	१३४
अविद्या	११५	स्त्रियाँ	१३५
शिक्षा की अवस्था ...	११६	सन्तान	१३८
साहित्य	१२०	समाज	१३९

भविष्यत् खण्ड

उद्बोधन	१५२	विश्राम	१७९
आशा	१७६	शुभ-कामना ...	,,
आदर्श	१७७	विनय	१८१
विश्वास	१७९		

श्रीगणेशायनमः

भारत-भारती

अतीत खण्ड

मङ्गलाचरण

मानस-भवन में आर्य्यजन जिसकी उतारें आरती—
भगवान ! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती ।
हो भद्रभावोद्भाविनी वह भारती हे भवगते !
सीतापते ! सीतापते ! ! गीतामते ! गीतामते ! ! ॥ १ ॥

उपक्रमणिका

हाँ, लेखनी ! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा,
दृक्कालिमा में डूब कर तैयार हो कर सर्वथा ।
स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़ें प्रस्ताव जो,
जग जायँ तेरी नोंक से सोये हुए हों भाव जो ॥ २ ॥

संसार में किसका समय है एक-सा रहता सदा,
हैं निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा ।
जो आज एक अनाथ है नरनाथ कल होता वही !
जो आज उत्सव-मग्न है कल शोक से रोता वही ! ॥ ३ ॥

चर्चा हमारी भी कभी संसार में सर्वत्र थी,
वह सद्गुणों की कीर्ति मानों एक और कलत्र थी।
इस दुर्दशा का स्वप्न में भी क्या हमें कुछ ध्यान था,
क्या इस पतन ही को हमारा वह अतुल उत्थान था ! ॥ ४ ॥

उन्नत रहा होगा कभी जो हो रहा अवनत अभी,
जो हो रहा अवनत अभी, उन्नत रहा होगा कभी।
हँसते प्रथम जो पद्म हैं तम-पङ्क में फँसते वही,
मुरझे पड़े रहते कुमुद जो अन्त में हँसते वही ॥ ५ ॥

उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है,
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति-कला,
उत्थान ही जिसका नहीं उसका पतन ही क्या भला ? ॥ ६ ॥

होता समुन्नति के अनन्तर सोच अवनति का नहीं,
हाँ, सोच तो है जो किसी की फिर न हो उन्नति कहीं।
चिन्ता नहीं जो व्योम-विस्तृत चन्द्रिका का ह्रास हो,
चिन्ता तभी है जब न उसका फिर नवीन विकास हो ॥ ७ ॥

है ठीक ऐसी ही दशा हतभाग्य भारतवर्ष की,
कब से इतिश्री हो चुकी इसके अखिल उत्कर्ष की।
पर सोच है केवल यही यह नित्य गिरता ही गया,
जब से फिरा है दैव इससे नित्य फिरता ही गया ॥ ८ ॥

यह नियम है, उद्यान में पक कर गिरे पत्ते जहाँ,
प्रकटित हुए पीछे उन्हीं के लहलहे पल्लव वहाँ।
पर हाय ! इस उद्यान का कुछ दूसरा ही हाल है,
पतझड़ कहें या सूखना, कायापलट या काल है ! ॥ ९ ॥

अनुकूल शोभा-मूल सुरभित फूल वे कुम्हला गये,
फलते कहाँ हैं अब यहाँ वे फल रसाल नये नये ?
बस, इस विशालोद्यान में अब झाड़ या झंखाड़ हैं,
तनु सूख कर काँटा हुआ, बस शेष हैं तो हाड़ हैं ॥ १० ॥

दृढ़-दुःख-दावानल इसे सब ओर घेर जला रहा,
तिस पर अदृष्टाकाश उलटा विपद्-वज्र चला रहा ।
यद्यपि बुझा सकता हमारा नेत्र-जल इस आग को,
पर धिक् हमारे स्वार्थमय सूखे हुए अनुराग को ॥ ११ ॥

सहृदय जनों के चित्त निर्मल कुड़क जाकर काँच-से—
होते दया के वश द्रवित हैं तप्त हो इस आँच से ।
चिन्ता कभी भावी दशा की, वर्तमान व्यथा कभी—
करती तथा चञ्चल उन्हें है भूतकाल-कथा कभी ॥ १२ ॥

जो इस विषय पर आज कुछ कहने चले हैं हम यहाँ,
क्या कुछ सजग होंगे सखे ! उसको सुनेंगे जो जहाँ ?
कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता ? ॥ १३ ॥

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।
यद्यपि हमें इतिहास अपना प्राप्त पूरा है नहीं,
हम कौन थे, इस ज्ञान को, फिर भी अधूरा है नहीं ॥ १४ ॥

भारतवर्ष की श्रेष्ठता

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गङ्गाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है ॥ १५ ॥

हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की भव-भूतियों का यह प्रथम भाण्डार है,
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार[1] है ॥१६॥

१—(क) पुराणों से सिद्ध है कि भारतवर्ष के ब्रह्मावर्त प्रदेश में ही ब्रह्माजी ने सृष्टि-रचना का आरम्भ किया था।

(ख) टॉड-राजस्थान में एक स्थान पर लिखा है कि आर्यावर्त के अतिरिक्त और किसी देश में सृष्टि के आरम्भ का हिसाब नहीं पाया जाता। इससे आदिसृष्टि यहीं हुई, इसमें सन्देह नहीं।

(ग) इंजील और कुरान से भी आदम और हौआ का अदन की वाटिका से निकल कर भारतवर्ष में आना प्रकट है।

(घ) सर वाल्टर रेले ने अपने जगत् के इतिहास (History of the World) में लिखा है कि जल-प्रलय के अनन्तर भारतवर्ष में ही वृक्ष-लता आदि की उत्पत्ति और मनुष्यों की बस्ती हुई थी।

यह पुण्य-भूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी 'आर्य्य' हैं;
विद्या, कला-कौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य्य १ हैं।
सन्तान उनकी आज यद्यपि हम अधोगति में पड़े;
पर चिन्ह उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े॥ १७॥

हमारा उद्भव

शुभ शान्ति-मय शोभा जहाँ भव-बन्धनों को खोलती,
हिल मिल मृगों से खेल करती सिंहिनी थी डोलती।
स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे जहाँ,
उन ऋषि गणों से ही हमारा था हुआ उद्भव यहाँ॥ १८॥

हमारे पूर्वज

उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है,
गाते नहीं उनके हमीं गुण, गा रहा संसार है।
वे धर्म्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उनसे वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे॥ १९॥

उनके अलौकिक दर्शनों से दूर होता पाप था,
अति पुण्य मिलता था तथा मिटता हृदय का ताप था।
उपदेश उनके शान्तिकारक थे निवारक शोक के,
सब लोक उनका भक्त था, वे थे हितैषी लोक के॥ २०॥

१—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

मनुस्मृति।

लखते न अघ की ओर थे वे, अघ न लखता था उन्हें;
वे धर्म्म को रखते सदा थे, धर्म्म रखता था उन्हें।
वे कर्म्म से ही कर्म्म का थे नाश करना जानते,
करते वही थे वे जिसे कर्तव्य थे वे मानते॥ २१॥

वे सजग रहते थे सदा दुख-पूर्ण तृष्णा-भ्रान्ति से,
जीवन बिताते थे सदा सन्तोष-पूर्वक शान्ति से।
इस लोक में उस लोक से वे अल्प सुख पाते न थे,
हँसते हुए आते न थे, रोते हुए जाते न थे॥ २२॥

जिनकी अपूर्व सुगन्धि से इन्द्रिय-मधुपगण थे हिले,
सद्भाव-सरजित वर जहाँ पर नित्य रहते थे खिले।
लहरें उठाने में जहाँ व्यवहार-मारुत लग्न था,
उन्मत्त आत्मा-हंस उनके मानसों में मग्न था॥ २३॥

वे ईश-नियमों की कभी अवहेलना करते न थे,
सन्मार्ग में चलते हुए वे विघ्न से डरते न थे।
अपने लिए वे दूसरों का हित कभी हरते न थे,
चिन्ता-प्रपूर्ण, अशान्ति-पूर्वक वे कभी मरते न थे॥ २४॥

वे मोह-बन्धन-मुक्त थे, स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे;
सम्पूर्ण सुख-संयुक्त थे, वे शान्ति-शिखरासीन थे।
मन से, वचन से, कर्म्म से वे प्रभु-भजन में लीन थे,
विख्यात ब्रह्मानन्द-नद के वे मनोहर मीन थे॥ २५॥

उनके चतुर्दिक-कीर्ति-पट को है असम्भव नापना,
की दूर देशों में उन्होंने उपनिवेश-स्थापना।
पहुँचे जहाँ वे अज्ञता का द्वार जानों रुक गया,
वे झुक गये जिस ओर को संसार मानों झुक गया॥ २६॥

वर्णन उन्होंने जिस विषय का है किया, पूरा किया;
मानों प्रकृति ने ही स्वयं साहित्य उनका रच दिया।
चाहे समय की गति कभी अनुकूल उनके हो नहीं,
हैं किन्तु निश्चल एक से सिद्धान्त उनके सब कहीं॥ २७॥

वे मेदिनी-तल में सुकृत के बीज बोते थे सदा,
परदुःख देख दयालुता से द्रवित होते थे सदा।
वे सत्त्वगुण-शुभ्रांशु से तम-ताप खोते थे सदा,
निश्चिन्त विघ्न-विहीन सुख की नींद सोते थे सदा॥ २८॥

वे आर्य्य ही थे जो कभी अपने लिये जीते न थे;
वे स्वार्थ-रत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे।
संसार के उपकार-हित जब जन्म लेते थे सभी,
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी?॥२९॥

आदर्श

आदर्श-जन संसार में इतने कहाँ पर हैं हुए?
सत्कार्य्य-भूषण आर्य्य-गण जितने यहाँ पर हैं हुए।
हैं रह गये यद्यपि हमारे गीत आज रहे सहे,
पर दूसरों के भी वचन साक्षी हमारे हो रहे॥ ३०॥

गौतम, वशिष्ठ-समान मुनिवर ज्ञान-दायक थे यहाँ,
मनु, याज्ञवल्क्य-समान सत्तम विधि-विधायक थे यहाँ।
वाल्मीकि-वेदव्यास से गुण-गान-गायक थे यहाँ,
पृथु, पुरु, भरत, रघु-से अलौकिक लोकनायक थे यहाँ॥ ३१॥

लक्ष्मी नहीं, सर्वस्व जावे, सत्य छोड़ेंगे नहीं;
अन्धे बनें पर सत्य से सम्बन्ध तोड़ेंगे नहीं।
निज सुत-मरण स्वीकार है पर वचन की रक्षा[1] रहे,
है कौन जो उन पूर्वजों के शील की सीमा कहे?॥ ३२॥

१—यह पद्य सत्यव्रत, अलर्क, मयूरध्वज और रुक्माङ्गद आदि सत्य-प्रतिज्ञ राजाओं को लक्ष्य करके लिखा गया है। मयूरध्वज आदि की कथाएँ तो प्रसिद्ध ही हैं, सत्यव्रत की कथा इस प्रकार है—

राजा सत्यव्रत का यह नियम था कि उसके बाज़ार में जो चीज़ें बिकने के लिए आवें वे यदि दिन भर में न बिक सकें तो शाम को स्वयं राजा उन्हें ख़रीद लेगा। राजा सर्वदा अपने इस नियम का पालन करता था। एक दिन एक लुहार लोहे की बनी हुई शनिश्चर की मूर्ति लाया और कहने लगा कि इसका मूल्य एक लाख रुपया है। पर जो कोई इसे ख़रीदेगा उसे लक्ष्मी, धर्म, कर्म, और यश आदि सब छोड़ जायँगे। उसकी ऐसी बातें सुन कर उस मूर्ति को किसीने न ख़रीदा। नियमानुसार शाम को वह मूर्ति राजा के सामने लाई गई। राजा ने सब कुछ सुन समझ कर भी उसको ख़रीद लिया। अपने नियम को नहीं तोड़ा। आधी रात के वक्त एक सुन्दर स्त्री ने आकर राजा से कहा कि मैं तुम्हारी राजलक्ष्मी हूँ। तुम्हारे यहाँ शनिश्चर आ गया, अब मैं नहीं रह सकती। मुझको बिदा दीजिए। राजा ने कहा जाओ। फिर इसी तरह धर्म, कर्म और यश भी बिदा हुए। अन्त में सत्यदेव आये,

सर्वस्व करके दान जो चालीस दिन भूखे रहे,
अपने अतिथि-सत्कार में फिर भी न जो रूखे रहे।
पर-तृप्ति कर निजतृप्ति मानी रन्तिदेव नरेश ने,
ऐसे अतिथि सन्तोष-कर पैदा किये इस देश ने ॥ ३३ ॥

आमिष दिया अपना जिन्होंने श्येन-भक्षण के लिये,
जो बिक गए चाण्डाल के घर सत्य-रक्षण के लिये!
दे दीं जिन्होंने अस्थियाँ परमार्थ-हित जानी जहाँ,
शिवि, हरिश्चन्द्र, दधीच-से होते रहे दानी यहाँ ॥ ३४ ॥

सत्पुत्र पुरु-से थे जिन्होंने तात-हित सब कुछ सहा,
भाई भरत-से थे जिन्होंने राज्य भी त्यागा अहा!
जो धीरता के, वीरता के प्रौढ़तम पालक हुए,
प्रह्लाद, ध्रुव, कुश, लव तथा अभिमन्यु-सम बालक हुए ॥३५॥

वह भीष्म का इन्द्रिय-दमन, उनकी धरा-सी धीरता,
वह शील उनका और उनकी वीरता, गम्भीरता।
उनकी सरलता और उनकी वह विशाल विवेकता,
है एक जन के अनुकरण में सब गुणों की एकता ॥ ३६ ॥

और बोले कि हे राजा! मैं सत्य हूँ। शनिश्चर के कारण मैं अब नहीं रह सकता, जाता हूँ। राजा ने उठ कर हाथ पकड़ लिया और कहा कि लक्ष्मी, धर्म और यश जायँ तो भले ही चले जायँ; पर आप कहाँ जाते हैं? आपको रखने के लिए ही तो मैंने शनिश्चर की मूर्ति ली है! सत्य से उत्तर देते न बना! जब सत्य न गया तब लक्ष्मी, धर्म्म और यश आदि सब लौट आए।

वर वीरता में भी सरसता वास करती थी यहाँ,
पर साथ ही वह आत्म-संयम था यहाँ का-सा कहाँ ?
आकर करे रति-याचना जो उर्वशी-सी भामिनी१,
फिर कौन ऐसा है, कहे जो "मत कहो यों कामिनी" ॥ ३७ ॥

यदि भूल कर अनुचित किसी ने काम कर डाला कभी,
तो वह स्वयं नृप के निकट दण्डार्थ जाता था तभी ।
अब भी 'लिखित मुनि२' का चरित वह लिखित है इतिहास में,
अनुपम सुजनता सिद्ध है जिसके अमल आभास में ॥३८॥

१—अर्जुन जब दिव्यास्त्र प्राप्त करने के लिये इन्द्रलोक को गये तब वहाँ उर्वशी नामकी अप्सरा उनके रूप-गुण पर मोहित होकर एक दिन उनके पास आई और अनेकों हाव-भाव दिखलाती हुई अपने ऊपर अनुरक्त होने के लिये उनसे प्रार्थना करने लगी । उसकी बातें सुन कर अर्जुन ने कहा कि तुम देवराज की सेवा में रहने वाली हो, अतएव मेरे लिये तुम शची के समान ही पूज्य हो । तुमको मुझसे ऐसी अनुचित बातें कदापि न कहनी चाहिए ।

२—शंख और लिखित नामके दो भाई थे । वे बड़े तपस्वी और सदाचारी थे । बाहुदा नदी के किनारे उन दोनों के जुदा जुदा आश्रम थे । एक दिन लिखित मुनि अपने बड़े भाई शंख मुनि के आश्रय में पहुँचे, वहाँ के वृक्षों में स्वादिष्ट और मधुर फल लगे हुए थे । शंख की अनुपस्थिति में लिखित ने उन फलों को तोड़ कर खाया । जब शंख को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कहा भाई, तुमने अच्छा काम नहीं किया । मेरी आज्ञा के बिना मेरे आश्रम के फल क्यों खाये ? जो हो, तुम चोरी के अपराध के अपराधी हो । अतएव तुम्हें चाहिए कि तुम राजा के

आर्य्य-स्त्रियाँ

केवल पुरुष ही थे न वे जिनका जगत को गर्व था,
गृह-देवियाँ भी थीं हमारी देवियाँ ही सर्वथा।
था अत्रि-अनुसूया-सदृश गार्हस्थ्य दुर्लभ स्वर्ग में,
दाम्पत्य में वह सौख्य था जो सौख्य था अपवर्ग में ॥ ३९ ॥

निज स्वामियों के कार्य्य में सम भाग जो लेतीं न वे,
अनुरागपूर्वक योग जो उसमें सदा देतीं न वे,
तो फिर कहातीं किस तरह 'अर्द्धाङ्गिनी' सुकुमारियाँ ?
तात्पर्य्य यह—अनुरूप ही थीं नरवरों के नारियाँ ॥ ४० ॥

हारे मनोहत पुत्र को फिर बल जिन्होंने था दिया,
रहते जिन्होंने नव-वधू के सुत-विरह स्वीकृत किया।

ास जाकर दण्ड की प्रार्थना करो। बड़े भाई की बात सुनकर लिखित
ुनि राजा सुद्युम्न के पास गये और सब हाल सुना कर बोले कि मैं
ोर हूँ, मुझे दण्ड दीजिए। राजा ने कहा कि तुम्हारी सत्यता पर
ासन्न होकर मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, जब राजा के दण्ड देने से पाप
ूर हो जाता है तब क्षमा कर देने से भी पाप दूर हो जायगा। जाइए।
ारन्तु लिखित मुनि ने न माना। निदान उनके दोनों हाथ काट डाले
ाये। हाथ कटवा कर वे अपने बड़े भाई शंख के पास आये और फिर
ुनसे क्षमा माँग कर अपने आश्रम में तप करने चले गए।

द्विज-पुत्र-रक्षा-हित जिन्होंने सुत-मरण सोचा नहीं,
विदुला, सुमित्रा और कुन्ती-तुल्य माताएँ१ रहीं ॥ ४१ ॥
बदली न जो, अल्पायु वर भी वर लिया सो वर लिया;
मुनि को सता कर भूल से, जिसने उचित प्रतिफल दिया ।

१—(क) युद्ध में सिन्धुराज से हार कर निश्चेष्ट बैठे हुए संजय नामक राजकुमार को उसकी माता विदुला ने अनेक प्रकार के नीतियुक्त वचनों द्वारा फिर युद्ध करने के लिये उत्साहित और उत्तेजित किया और अन्त में उसने अपने शत्रुओं को पराजित करके विजय-लक्ष्मी पाई ।

(ख) नव बधू ऊर्मिला के रहते हुए भी सुमित्रा का अपने प्रिय पुत्र लक्ष्मण को चौदह वर्ष के लिए रामचन्द्रजी के साथ वन भेज देने का वृत्तान्त तो प्रसिद्ध ही है ।

(ग) एकचक्रा नगरी में बक नामक एक राक्षस ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था । नगर निवासियों से वह नित्य एक मनुष्य भेट में लेता था और उसे मार कर खा जाता था । एक दिन पाण्डव भी उसी नगरी में आकर एक ब्राह्मण के यहाँ ठहरे । उस दिन उसी ब्राह्मण के पुत्र की उस राक्षस के पास जाने की बारी थी । उसकी माता और स्त्री दोनों रो रही थीं । कुन्ती ने सब हाल जान कर और यह विचार कर कि जिसके हम अतिथि हुए हैं—जिसने हमें आश्रय दिया है—उसका उपकार करना हमारा धर्म है । कुन्ती ने सोचा कि यदि ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा के लिये मेरा एक पुत्र मारा भी जायगा तो भी मेरे चार पुत्र रहेंगे । ब्राह्मणी के तो एक ही पुत्र है । अस्तु । उस ब्राह्मण-कुमार के बदले में भीमसेन को भेज दिया । अन्त में भीमसेन ने उस बक राक्षस को मार कर सदा के लिए पुर-वासियों की वह विपत्ति दूर कर दी ।

सेवार्थ जिसने रोगियों के था विराम लिया नहीं,
थीं धन्य सावित्री, सुकन्या और अंशुमती१ यहीं ॥ ४२ ॥

१—(क) सावित्री ने मन से सत्यवान् को वर लिया था। पीछे देवर्षि नारद से यह सुन कर कि वह अल्पायु है, एक वर्ष में ही मर जायगा; सावित्री के माता-पिता ने सावित्री को बहुत समझाया कि वह किसी दूसरे को वरण करे। परन्तु वह अपने वचन पर अटल रही और सत्यवान् को ही वरण किया। फिर जब एक वर्ष बाद सत्यवान् की मृत्यु हो गई तब सावित्री ने अपने पातिव्रत धर्म के बल से यमराज को प्रसन्न करके उसे जिला लिया।

(ख) सुकन्या राजा शर्याति की पुत्री थी। एक समय वन-विहार करते हुए राजा शर्याति ने च्यवन ऋषि के आश्रम के पास अपना डेरा डाला। सुकन्या भी पिता के साथ थी। वह घूमती फिरती एक जगह जा पहुँची। वहाँ उसने देखा कि एक मिट्टी का ढेर-सा बन रहा है और उसमें दो तारे-से चमक रहे हैं। कौतूहलवश होकर उसने उन दोनों तारों को काँटे से कुरेद डाला। कुरेदने पर उनमें से खून निकल पड़ा। खून देख कर वह बहुत घबराई और आकर अपने पिता को सब हाल कह सुनाया। राजा ने जब वहाँ जाकर देखा तो मालूम हुआ कि वे वृद्ध च्यवन ऋषि हैं। बरसों तपस्या करते करते उन पर मिट्टी चढ़ गई है। उनकी दोनों आँखें फूट गईं और उनसे खून निकल रहा है। राजा ने कहा कि महाराज! विना जाने मेरी पुत्री से यह अपराध हो गया है, कृपा करके क्षमा कीजिए। तब महात्मा च्यवन ने अपनी सेवा के लिए उसी पुत्री को माँगा। यह सुन कर राजा बहुत घबराया किन्तु सुकन्या बोली कि हे पिता, मैंने ही इनको कष्ट पहुँचाया है अतएव मैं ही इनकी सेवा करूँगी। निदान सुकन्या च्यवन ऋषि को ब्याह दी गई और वह बड़े भक्तिभाव से उनकी सेवा करने लगी। यही नहीं, एक बार

मूँदे रही दोनों नयन आमरण 'गान्धारी' जहाँ,
पति-संग 'दमयन्ती' स्वयं वन वन फिरी मारी जहाँ।
यों ही जहाँ की नारियों ने धर्म्म का पालन किया,
आश्चर्य्य क्या फिर ईश ने जो दिव्यबल उनको दिया ॥ ४३ ॥

अबला जनों का आत्म-बल संसार में वह था नया,
चाहा उन्होंने तो अधिक क्या, रवि-उदय भी रुक गया१ !
जिस क्षुब्ध मुनि की दृष्टि से जल कर विहग भू पर गिरा,
वह भी सती के तेज-सम्मुख रह गया निष्प्रभ निरा ॥ ४४ ॥

उसने अश्विनीकुमारों को प्रसन्न करके उनकी चिकित्सा से अपने पति का कायाकल्प करवा लिया। इससे उनके नेत्र तो हो ही गये, साथ ही उन्हें तरुणावस्था भी प्राप्त हो गई।

(ग) अंशुमती सुव्रत नामक मुनीश्वर की स्त्री थी। वह बड़ी पति-परायणा और दयालु थी। पति-सेवा और रोगियों की चिकित्सा करना ही उसके मुख्य काम थे। दूर दूर से अनेकों रोगी और दीन-दुःखी मनुष्य उसके पास आते और वह उन सबका कष्ट निवारण करके उन्हें सदुपदेश दिया करती थी।

१—(क) एक ब्राह्मण अपने कर्म-दोष से कोढ़ी हो गया था। उसका स्वभाव भी अच्छा न था। किन्तु उसकी स्त्री पतिव्रता थी। एक बार रात को वह अपने पति को कन्धे पर चढ़ा कर उसकी इच्छा के अनुसार कहीं लिए जाती थी। मार्ग में माण्डव्य ऋषि के शरीर से उसके पति का पैर लग गया। उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि मुझसे

जिस पापिष्ठ का चरण-स्पर्श हुआ है वह सूर्योदय होते ही मर जायगा। उस स्त्री ने कहा कि सूर्योदय ही न होगा! उसके पातिव्रत धर्म्म के प्रभाव से हुआ भी ऐसा ही। सूर्य्य का उदय होना रुक गया। इससे बड़ी हलचल मच गई। अन्त में अनसूया देवी ने समझा बुझा कर सूर्य्य का उदय करवाया। सूर्योदय होते ही ऋषि का शाप फलीभूत हुआ। वह ब्राह्मण मर गया। किन्तु अनुसूया ने अपने प्रभाव से उसे फिर जिला दिया और उसे नीरोग भी कर दिया।

(ख) एक योगी वन में वृक्ष के नीचे बैठा था। सहसा दो कौवों ने उसी वृक्ष पर काँव काँव मचा कर उसे क्रुद्ध कर दिया। ज्योंही उसने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि ऊपर की ओर डाली त्योंही वे दोनों पक्षी मर कर नीचे गिर पड़े। अपना ऐसा प्रभाव देख कर योगी को गर्व हुआ। एक बार उसी योगी ने किसी गाँव में जाकर एक गृहस्थ के द्वार पर भिक्षा के लिए आवाज़ दी। भीतर से स्त्री-कण्ठ से उत्तर मिला "ज़रा देर ठहरो।" योगी ने कहा—हैं, यह अभागिनी स्त्री मुझे ठहरने को कहती है, मेरे योग-बल को नहीं जानती! अभी वह यह सोच ही रहा था कि अन्दर से फिर आवाज़ आई—"बेटे बहुत क्रोध मत कर, यहाँ कौए नहीं रहते।" अब तो योगी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। स्त्री के बाहर आने पर वह उस के पैरों पर गिर पड़ा और पूछने लगा कि माँ! तूने यह सब कैसे जाना? स्त्री ने कहा कि "मैं एक साधारण स्त्री हूँ; किन्तु मैं ने हमेशा अपने धर्म का पालन किया है। अभी जब मैंने तुम्हें ठहरने को कहा था तब मैं अपने रुग्ण पति की सेवा में लगी हुई थी। पति-सेवा ही मेरा धर्म्म है। अपने धर्म्म का पालन करने से मेरा हृदय इतना निर्मल हो गया है कि उसमें सब बातें प्रतिबिम्बित हो जाती हैं। यदि तुम्हें इससे अधिक जानने की इच्छा है तो अमुक व्याध के पास जाओ।" उस स्त्री के उपदेशानुसार वह योगी उस व्याध के पास गया और व्याध ने उसे अनेक सारगर्भित उपदेश दिये। वही उपदेश "व्याधगीता" के नामसे प्रसिद्ध हैं।

हमारी सभ्यता

शैशव-दशा में देश प्रायः जिस समय सब व्याप्त थे,
निःशेष विषयों में तभी हम प्रौढ़ता को प्राप्त थे।
संसार को पहले हमीं ने ज्ञान-भिक्षा दान की,
आचार की, व्यवहार की, व्यापार की, विज्ञान१ की ॥ ४५ ॥

'हाँ' और 'ना' भी अन्य जन करना न जब थे जानते,
थे ईश के आदेश तब हम वेदमंत्र बखानते।
जब थे दिगम्बर रूप में वे जङ्गलों में घूमते,
प्रासाद-केतन-पट हमारे चन्द्र को थे चूमते ॥ ४६ ॥

जब मांस-भक्षण पर वनों में अन्य जन थे जी रहे,
कृषि-कार्य्य करके आर्य्य तब शुचि सोमरस थे पी रहे।
मिलता न यह सात्त्विक सु-भोजन यदि शुभाविष्कार का,
तो पार क्या रहता जगत में उस विकृत व्यापार का ? ॥ ४७ ॥

१—२० फरवरी १८८४ के 'डेली ट्रब्यून' नामक पत्र में ब्राऊन (D. O. Brown) साहब ने स्वीकार किया है कि "यदि हम पक्ष-पात रहित होकर भली भाँति परीक्षा करें तो हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू ही सारे संसार के साहित्य, धर्म्म और सभ्यता के जन्मदाता हैं।"

थी गर्व नित्य निजत्व का पर दम्भ से हम दूर थे,
थे धर्म्म-भीरु परन्तु हम सब काल सच्चे शूर थे।
सब लोक-सुख हम भोगते थे बान्धवों के साथ में,
पर पारलौकिक-सिद्धि भी रखते सदा थे हाथ में॥ ४८॥

थे ज्यों समुन्नति के सुखद उत्तुङ्ग शृङ्गों पर चढ़े,
त्यों ही विशुद्ध विनीतता में हम सभी से थे बढ़े।
भव-सिन्धु तरने के लिए आत्मावलम्बी धीर ज्यों,
परमार्थ-साधन-हेतु थे आतुर परन्तु गभीर त्यों॥ ४९॥

यद्यपि सदा परमार्थ ही में स्वार्थ थे हम मानते,
पर कर्म्म से फल-कामना करना न हम थे जानते।
विख्यात जीवन-व्रत हमारा लोक-हित एकान्त था,
'आत्मा अमर है, देह नश्वर,' यह अटल सिद्धान्त था॥५०॥

हम दूसरों के दुःख को थे दुःख अपना मानते,
हम मानते कैसे नहीं, जब थे सदा यह जानते—
'जो ईश कर्त्ता है हमारा दूसरों का भी वही,
हैं कर्म्म भिन्न परन्तु सबमें तत्त्व-समता हो रही'॥ ५१॥

बिकते गुलाम न थे यहाँ, हममें न ऐसी रीति थी,
सेवक-जनों पर भी हमारी नित्य रहती प्रीति थी।

वह नीति ऐसी थी कि चाहे हम कभी भूखे रहें,
पर बात क्या, जीते हमारे जो कभी वे दुख सहें१ ॥ ५२ ॥

अपने लिए भी आज हम क्यों जी न सकते हों यहाँ,
पर दूसरों ही के लिए जीते जहाँ थे हम जहाँ।
यद्यपि जगत में हम स्वयं विख्यात जीवन-मुक्त थे,
करते तदपि जीवन्मृतों को दिव्य जीवन-युक्त थे ॥ ५३ ॥

थी दूसरों की आपदाहरणार्थ अपनी सम्पदा,
कहते नहीं थे किन्तु हम करके दिखाते थे सदा।
नीचे गिरे को प्रेम से ऊँचा चढ़ाते थे हमीं,
पीछे रहे को घूम कर आगे बढ़ाते थे हमीं ॥ ५४ ॥

संयम-नियम-पूर्वक प्रथम बल और विद्या प्राप्त की,
होकर गृही फिर लोक की कर्तव्य-रीति समाप्त की।
हम अन्त में भव-बन्धनों को थे सदा को तोड़ते,
आदर्श भावी सृष्टिहित थे मुक्ति-पथ में छोड़ते ॥ ५५ ॥

१-(क) हिन्दू लोग विदेशियों को भी ग़ुलाम नहीं बनाते, स्वदेशियों को तो भला वे क्यों बनाने लगे।

मेगास्थनीज़।

(ख) गृहपति चाहे अपने आप भूखा रह जाय, अपनी स्त्री और बच्चों को भूखे रख ले, परन्तु उस दास (शूद्र) को कभी भूखा न रक्खे जो उसका दैनिक कार्य्य करता है।

आपस्तंब।

हमको विदित थे तत्त्व सारे नाश और विकाश के,
कोई रहस्य छिपे न थे पृथ्वी तथा आकाश के।
थे जो हज़ारों वर्ष पहले जिस तरह हमने कहे,
विज्ञान-वेत्ता अब वही सिद्धान्त निश्चित कर रहे ॥५६॥

"है हानिकारक नीति निश्चय निकटकुल में व्याह की,
है लाभकारक रीति शव के गाड़ने से दाह की"।
यूरोप के विद्वान भी अब इस तरह कहने लगे[1],
देखो कि उलटे स्रोत सीधे किस तरह बहने लगे ! ॥५७॥

निज कार्य्य प्रभु की प्रेरणा ही थे नहीं हम जानते,
प्रत्युत उसे प्रभु का किया ही थे सदा हम मानते।
भय था हमें तो बस उसीका और हम किससे डरे ?
हाँ, जब मरे हम तब उसीके प्रेम से विह्वल मरे ॥५८॥

था कौन ईश्वर के सिवा जिसको हमारा सिर झुके ?
हाँ, कौन ऐसा स्थान था जिसमें हमारी गति रुके ?

१—यूरोप के अनेक डाक्टरों की राय है कि निकट-कुल में विवाह होने की रीति हानिकारक है। यदि यह रीति प्रचलित रही तो विद्वान और तेजस्वी बालक उत्पन्न न होंगे। इसी तरह मुर्दे को गाड़ने की अपेक्षा जलाने की रीति वे लाभदायक समझने लगे हैं। प्रसिद्ध यूरोपीय तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर पहले ही लिख गया था कि उसका मृत शरीर गाड़ा न जाय; जलाया जाय। ऐसा ही किया भी गया।

सारी धरा तो थी धरा हो, सिन्धु भी बँधवा दिया;
आकाश में भी आत्म-बल से सहज ही विचरण किया१॥५९॥

हम वाह्य उन्नति पर कभी मरते न थे संसार में,
बस मग्न थे अन्तर्जगत के अमृत-पारावार में।
जड़ से हमें क्या, जब कि हम थे नित्य चेतन से मिले,
हैं दीप उनके निकट क्या जो पद्म दिनकर से खिले ? ॥६०॥

रौंदी हुई है सब हमारी भूमि इस संसार को,
फैला दिया व्यापार, कर दी धूम धर्म्म-प्रचार की।

१—(क) "ततः प्रतस्थे भगवान् प्रयागात्तं मण्डनं पण्डितमाशु जेतुम्।
गच्छन् खसृत्या पुरमालुलोके माहिष्मतीं मण्डनमण्डितां सः।"

शङ्करदिग्विजय।

अर्थात् मण्डन पण्डित को जीतने के लिए भगवान् शङ्कराचार्य ने प्रयाग से प्रस्थान किया और आकाश-मार्ग से गमन करके मण्डन-मण्डित माहिष्मती नगरी को देखा।

(ख) "गालव, इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनातत्र भवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति" (अभिज्ञानशाकुन्तले)

अर्थात् हे गालव ! इसी समय आकाश-मार्ग से कण्व के पास जाकर मेरी ओर से यह प्रिय समाचार सुना दे कि दुर्वासा का शाप मिट जाने पर आज दुष्यन्त ने पुत्रवती शकुन्तला को स्वीकार कर लिया।

कप्तान "कोलम्बस" कहाँ था उस समय, कोई कहे ?
जब के सु-चिन्ह अमेरिका में हैं हमारे मिल रहे१ ॥ ६१ ॥

हम देखते फिरता हुआ जोड़ा न जो दिन-रात का—
करते कहो वर्णन भला फिर किस तरह इस बात का ?
हम वर-वधू की भाँवरों से साम्य उसका कर चुके२,
अब खोजने जाकर जिसे कितने विदेशी मर चुके ! ॥ ६२ ॥

१—सारे सभ्य-संसार का यह विश्वास है कि सन् १४९२ ई० में कोलम्बस ने अमेरिका का आविष्कार किया। पर यह मत भ्रमात्मक है। वहाँ हिन्दू और बौद्धों के बहुत पुराने चिन्ह मिले हैं। दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक राज्य में एक सूर्य-मन्दिर है। इसकी मूर्ति का आकार उनाव (दतिया) के सूर्य-मन्दिर की मूर्ति से मिलता है। और भी कई ऐसे चिन्ह मिलते हैं जिनसे बहुत पुराने ज़माने में हिन्दुओं का वहाँ जाना साबित होता है। प्रोफ़ेसर जान फ्रायर अमेरिका के 'हारपर्स' नामक मासिक पत्र में एक लेख लिख कर यह बात साबित कर चुके हैं कि कोलम्बस के सकड़ों वर्ष पहले बौद्ध-धर्म प्रचारक-गण वहाँ गये थे और उन्होंने बौद्ध-धर्म और एशियाई सभ्यता का प्रचार किया था।

२—प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥

रघुवंश।

अर्थात् परस्पर मिला हुआ दिन-रात का जोड़ा मेरुपर्वत के चारों ओर घूमता हुआ जिस भाँति शोभित होता है उसी भाँति वह अज और इन्दुमती का जोड़ा बढ़ी हुई लपट वाली अग्नि की प्रदक्षिणा करता हुआ शोभित हुआ।

आरम्भ जब जो कुछ किया हमने उसे पूरा किया,
था जो असम्भव भी उसे सम्भव हुआ दिखला दिया।
कहना हमारा बस यही था विघ्न और विराम से—
करके हटेंगे हम कि अब मर के हटेंगे काम से॥ ६३॥

यह ठीक है, पश्चिम बहुत ही कर रहा उत्कर्ष है,
पर पूर्व-गुरु उसका यही पुरु वृद्ध भारतवर्ष है।
जाकर विवेकानन्द-सम कुछ साधु जन इस देश से—
करते उसे कृतकृत्य हैं अब भी अतुल उपदेश से॥ ६४॥

वे जातियाँ जो आज उन्नति-मार्ग में हैं बढ़ रहीं,
सांसारिकी स्वाधीनता की सीढ़ियों पर चढ़ रहीं।
यह तो कहें, यह शक्ति उनको प्राप्त कब कैसे हुई?
यह भी कहें वे, दार्शनिक चर्चा वहाँ ऐसे हुई॥ ६५॥

यूनान ही कह दे कि वह ज्ञानी-गुणी कब था हुआ?
कहना न होगा, हिन्दुओं का शिष्य वह जब था हुआ।
हमसे अलौकिक ज्ञान का आलोक यदि पाता नहीं,
तो वह अरब-यूरोप का शिक्षक[1] कहा जाता नहीं॥ ६६॥

१—(क) प्रायः सब नये और पुराने इतिहासवेत्ता इस बात को स्वीकार करते हैं कि दर्शन, विज्ञान और सभ्यता-सम्बन्धिनी सारी बातें यूनान ने भारतवर्ष ही से सीखी हैं और वहाँ से अथवा इसी प्रकार परस्पर सारे संसार ने प्राप्त कीं। यूरोप और अरब में यहीं से जाकर प्रकाश फैला। वर्तमान भूगोल, इतिहास और पुराने चिन्हों की खोज स्पष्टता से प्रकट

संसार भर में आज जिसका छा रहा आतङ्क है,
नीचा दिखा कर रूस को भी जो हुआ निःशङ्क है ।
जयपाणि जो वर्द्धक हुआ है एशिया के हर्ष का,
है शिष्य वह जापान भी इस वृद्ध भारतवर्ष का ॥ ६७ ॥

करती है कि हिन्दू अपने देश हिन्दुस्तान में विद्या और कला-कौशल में प्रवीण होकर अन्य देशों में उसका प्रचार करने गये ।

(ख) यूनान के प्राचीन इतिहास से पता लगता है कि अपरिचित लोग पूर्व की ओर से आकर वहाँ बसे । वे बहुत बड़े बुद्धिमान्, विद्वान् और कला-कुशल थे । उन्होंने वहाँ पर विद्या और वैद्यक का प्रचार किया, वहाँ के निवासियों को सभ्य और अपना विश्वासपात्र बनाया ।

(ग) ग्रन्थकार एरियन और यूनान का इतिहास बतलाता है कि वे लोग जो पूर्व से आकर यूनान में बसे थे और जिन्होंने वहाँ के असभ्य निवासियों को अधीन किया था, कैसे थे ? वे देवताओं के वंशज थे । उनके पास अपना निज का सोना था और अधिकता से था । वे रेशम के कामदार ऊनी दुशाले ओढ़ते थे, हाथीदाँत की वस्तुएँ व्यवहार में लाते थे और बहुमूल्य रत्नों के हार पहने थे । इत्यादि । इसके सिवा नदियों, पहाड़ों और झीलों के ऐसे बहुत से नाम यूनान के भूगोल में मिलते हैं जिनका अर्थ यूनानी भाषा में कुछ नहीं होता, परन्तु संस्कृत में पूर्णतया होता है । बात यह है कि हिन्दुओं ने अपने प्यारे देश की याद में उन नदियों, पहाड़ों, झीलों और शहरों के भी नाम अपने देश के ढङ्ग पर ही रक्खे थे ।

(घ) महाभारत से भी यह प्रकट है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध के अनन्तर हिन्दुओं के कितने ही घराने पश्चिम की ओर गये और यूनान, फैनीसिया, फिलस्तीन, कार्थेज़, रूम और मिस्र आदि देशों में जाकर बसे ।

यूरोप भी जो बन रहा है आज कल मार्म्मिक मना,
यह तो कहे उसके खुदा का पुत्र कब धार्म्मिक बना ?
था हिन्दुओं का शिष्य ईसा, यह पता भी है चला,
ईसाइयों का धर्म्म भी है बौद्ध साँचे में ढला१ ॥ ६८ ॥

१—(क) हाल में रूस के नोटबिच नामक यात्री को तिब्बत के हीमिस नामक मठ में ईसा का एक प्राचीन हस्तलिखित जीवनचरित्र मिला है। वह पाली भाषा में है और बड़ी बड़ी दो जिल्दों में समाप्त हुआ है। ईसाइयों का कथन है कि ईसा ईश्वर का पुत्र था और वह मरियम नाम की एक कुँआरी लड़की से पैदा हुआ था। परन्तु इस जीवनी से मालूम हुआ है कि वह इसराईल में पैदा हुआ था, और उसके माँ-बाप ग़रीब थे। १३, १४ वर्ष की उम्र में वह अपने माँ-बाप से रूठ कर घर से भाग निकला और हिन्दुस्तान में आया। यहाँ वह राजगृह, काशी और जगन्नाथ पुरी आदि स्थानों में घूमता रहा और आर्यों से वेदाध्ययन करता रहा। इसके बाद उसने पाली भाषा सीखी और वह शुद्ध बौद्ध हो गया। पर अपने देश को लौट कर उसने अपना नया ही धर्म चलाना चाहा; इसी बखेड़े में उसे फाँसी की सजा हो गई। इससे मालूम होता है कि अन्यान्य मतों के समान ईसाई धर्म्म भी भारतवर्ष की ही सामग्री से तैयार हुआ है।

(ख) दत्त साहब ने अपने इतिहास में बौद्ध और ईसाई धर्म्म की अद्भुत समानता के अनेक उदाहरण दिये हैं। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

संसार में जो कुछ जहाँ फैला प्रकाश-विकास है,
इस जाति की ही ज्योति का उसमें प्रधानाभास[१] है।
करते न उन्नति-पथ परिष्कृत आर्य्य जो पहले कहीं,
सन्देह है, तो विश्व में विज्ञान बढ़ता या नहीं॥ ६९॥

अनमोल आविष्कार यद्यपि हैं अनेकों कर चुके,
निज नीति, शिक्षा, सभ्यता की सिद्धि का दम भर चुके।
पर पीटते हैं सिर विदेशी आज भी जिस शान्ति को,
थे हम कभी फैला चुके उसकी अलौकिक कान्ति को॥ ७०॥

है आज पश्चिम में प्रभा जो पूर्व से ही है गई,
हरते अँधेरा यदि न हम होती न खोज नई नई[२]।
इस बात की साक्षी प्रकृति भी है अभी तक सब कहीं,
होता प्रभाकर पूर्व से ही उदित, पश्चिम से नहीं॥ ७१॥

१—"हिन्दुओं के देवताओं की वंशावली" (Theogony of the Hindus) नामक पुस्तक के रचयिता कौन्ट जार्न्स जेर्ना (Count Jorns Jerna) लिखते हैं:—

"आर्यावर्त केवल हिन्दू धर्म्म का ही घर नहीं है वरन् वह संसार की सभ्यता का आदि भाण्डार है। हिन्दुओं की सभ्यता क्रमशः पश्चिम की ओर इथोपिया, ईजिप्त, और फोनेशिया तक; पूर्व दिशा में स्याम, चीन, और जापान तक; दक्षिण में लङ्का, जावा, सुमात्रा तक; और उत्तर की ओर परशिया, चाल्डिया और कोल्चिस और वहाँ से यूनान और रोम हियर बोरियन्स के रहने के स्थान तक पहुँची।"

२–धीरे धीरे पश्चिमी विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि प्राचीन भारतवर्ष खूब उन्नत अवस्था में था और इसीने योरप में तरह

अन्तिम प्रभा का है हमारा विक्रमी संवत् यहाँ,
है किन्तु औरों का उदय इतना पुराना[१] भी कहाँ ?
ईसा, मुहम्मद आदि का जग में न था तब भी पता,
कब की हमारी सभ्यता है, कौन सकता है बता ? ॥ ७२ ॥

तरह की विद्या, कला और अन्य बहुत सी वस्तुओं का प्रचार किया था। कुछ दिन हुए न्यूयार्कवासी डेलमार साहब का एक लेख "इंडियन रिव्यू" में निकला था। उसमें आपने सिद्ध किया है कि पश्चिमी संसार को जिन बातों पर अभिमान है वे असल में भारतवर्ष से ही वहाँ गई थीं। आप लिखते हैं कि तरह तरह के फल-फूल, पेड़ और पौधे जो इस समय योरप में पैदा होते हैं, हिन्दुस्तान ही से लाकर वहाँ लगाये गये थे। इनके सिवा मलमल, रेशम, घोड़े, टीन, लोहे, और सीसे का प्रचार भी योरप में हिन्दुस्तान ही के द्वारा हुआ था। केवल यही नहीं, किन्तु ज्योतिष, वैद्यक, चित्रकारी और क़ानून भी भारतवासियों ने ही योरप वालों को सिखाया था। पर अब समय के फेर को देखिए कि स्वयं भारतवासी इन विद्याओं को सीखने के लिए योरप जाते हैं !

१-डाक्टर कीलहार्न आदि पश्चिमी विद्वानों का सिद्धान्त है कि विक्रमादित्य ईसा की छठी शताब्दी में हुए, ईसा से ५७ वर्ष पहले नहीं। अतएव विक्रम-संवत् ईसा के छठे शतक का है। परन्तु रावबहादुर सी० वी० वैद्य०, एम०ए०एल०एल० बी० महाशय ने उक्त डाक्टर साहब एवं अन्यान्य यूरोपीय विद्वानों के उपर्युक्त सिद्धान्त का अच्छी तरह से खण्डन करके यह सिद्ध कर दिया है कि शकारि विक्रमादित्य ने, ईसा से ५७ वर्ष पहले, शकों को परास्त करके भारतवर्ष से निकाल दिया और अपनी उस बड़ी भारी विजय की स्मृति के लिए विक्रम-संवत् चलाया।

सर्वत्र अनुपम एकता का इस प्रकार प्रभाव था—
थी एक भाषा, एक मन था, एक सबका भाव था।
सम्पूर्ण भारतवर्ष मानों एक नगरी थी बड़ी,
पुर और ग्राम-समूह-संस्था थी मुहल्लों की लड़ी॥ ७३॥

हैं वायु-मण्डल में हमारे गीत अब भी गूँजते,
निर्झर, नदी, सागर, नगर, गिरि, वन सभी हैं कूजते।
देखो, हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था,
नर-देव थे हम, और भारत? देव-लोक समान था॥ ७४॥

हमारी विद्या-बुद्धि

पाण्डित्य का इस देश में सब ओर पूर्ण विकास था,
बस, दुर्गुणों के ग्रहण में ही अज्ञता का वास था।
सब लोग तत्त्व-ज्ञान में संलग्न रहते थे यहाँ—
हाँ व्याध भी वेदान्त के सिद्धान्त[१] कहते थे यहाँ!॥ ७५॥

जिसकी प्रभा के सामने रवि-तेज भी फीका पड़ा,
अध्यात्म-विद्या का यहाँ आलोक फैला था बड़ा!
मानस-कमल सबके यहाँ दिन-रात रहते थे खिले,
मानों सभी जन ईश की ज्योतिश्छटा में थे मिले॥ ७६॥

समझा प्रथम किसने जगत में गूढ़ सृष्टि-महत्त्व को?
जाना कहो किसने प्रथम जीवन-मरण के तत्त्व को?
आभास ईश्वर-जीव का कैवल्य तक किसने दिया?
सुनलो, प्रतिध्वनि हो रही, यह कार्य्य आर्य्यों ने किया॥ ७७॥

१ व्याधगीता।

हम१ वेद, वाकोवाक्य-विद्या, ब्रह्मविद्या-विज्ञ थे,
नक्षत्र-विद्या, क्षत्र-विद्या, भूत-विद्याऽभिज्ञ थे।
निधि, नीति-विद्या, राशि-विद्या, पित्र्य-विद्या में बढ़े,
सर्पादि-विद्या, देव-विद्या, दैव-विद्या थे पढ़े ॥ ७८ ॥

१—महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर ऋषि नारद ने कहा कि मैंने ये विद्याएँ पढ़ी हैं—

"सहोवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं ँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां ँ सर्पदेवजनविद्यामेतत् भगवोऽध्येमि।" छान्दोग्योपनिषद्।

अर्थात् हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदों के अर्थ विधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्यविद्या, एकायनविद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजन विद्याओं का अध्ययन किया है।

इन विद्याओं की व्याख्या भारतवर्ष के इतिहास में इस तरह की गई है:—

"—"इतिहास, पुराण" (History), "वेदानां वेदम्" अर्थात् वेदों के अर्थ जिन विद्याओं से जाने जायँ यथा व्याकरण, निरुक्तादि (Grammar and Philology, &c.) "पित्र्यम्" पितरों को प्रसन्न रखने की विद्या (Anthropology), "राशिम्" गणित विद्या (Mathematics), "दैवम्" उत्पातविद्या, यथा भूकम्प, जलप्लावन, विद्युत्कोप, वायुकोप (Physical Geography), "निधिम्" खानों की विद्या (Minerology), "वाकोवाक्यम्" तर्कशास्त्र (Logic), "एकायनम्" नीतिविद्या (Ethics), "देवविद्याम्" ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि यहाँ 'देव' शब्द का क्या

आये नहीं थे स्वप्न में भी जो किसी के ध्यान में,
वे प्रश्न पहले हल हुए थे एक हिन्दुस्तान में[1] ।
सिद्धान्त मानव-जाति के जो विश्व में वितरित हुए,
बस, भारतीय तपोवनों में थे प्रथम निश्चित हुए ॥ ७९ ॥

अभिप्राय है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में जो आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, बिजली और हवन-यज्ञ को तेतीस देव माना है। यदि उनकी व्याख्या देवविद्या में हो तो निःसन्देह यह विद्या बहुत बड़ी होगी, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण तत्वविद्या तथा रसायन, शिल्पादि सभी होंगे और साथ ही मैटर वा तत्त्व से भिन्न चेतन जीव की भी व्याख्या होगी (Physical Science) "ब्रह्मविद्याम्" जिसमें ब्रह्म की व्याख्या हो (Brahma Vidya), "भूतविद्याम्" प्राणियों की विद्या अर्थात् प्राणियों के प्रकार वर्णन तथा उनकी रचनादि (Zoology, Anatomy, etc.) "क्षत्रविद्याम्" धनुर्विद्या तथा राजशासनविद्या (Military Science and Art of Government), "नक्षत्रविद्याम्" ज्योतिष (Astronomy), "सर्पदेवजनविद्याम्" का तात्पर्य ठीक ठीक नहीं ज्ञात होता, परन्तु सम्भव है कि इसमें सर्पों के विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो, (Scientific treatment of venomous reptiles, etc.)" सम्भव है कि इस व्याख्या में कहीं कहीं विद्वानों का मतभेद हो।

१—अध्यापक मैक्समूलर ने अपने एक व्याख्यान में एक बार कहा था कि यदि कोई मुझसे यह बात पूछे कि वह देश कौन और कहाँ है जहाँ पर मनुष्यों ने इतनी मानसिक उन्नति की है कि वह उत्तमोत्तम गुणों की वृद्धि कर सका हो और जहाँ कि मानवसम्बन्धी बड़ी बड़ी गूढ़ बातों पर विचार किया गया हो और जहाँ उनके हल करनेवाले पैदा हुए हों तो मैं यही उत्तर दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है।

थे योग-बल से वश हमारे नित्य पाँचों तत्त्व भी,
मर्त्यत्व में वह शक्ति थी रखता न जो अमरत्व भी।
संसार-पथ में वह हमारी गति कहीं रुकती न थी,
विस्तृत हमारी आयु वह चिरकाल तक चुकती न थी ॥८०॥

जो श्रम उठा कर यत्न से की जाय खोज जहाँ तहाँ,
विश्वास है, तो आज भी योगी मिलें ऐसे यहाँ—
जो शून्य में संस्थित रहें, *भोजन विना न कभी मरें;
अविचल समाधिस्थित रहें, द्रुत देह परिवर्तित करें ॥ ८१ ॥

हाँ, वह मनःसाक्षित्व-विद्या१ की विलक्षण साधना;
वह मेस्मरेज़िमर२ की महत्ता, प्रेत-चक्राराधना३ ।
आश्चर्य्यकारक और भी वे आधुनिक बहु वृद्धियाँ,
कहना वृथा है, हैं हमारे योग की लघु सिद्धियाँ ॥ ८२ ॥

हमारा साहित्य

साहित्य का विस्तार अब भी है हमारा कम नहीं;
प्राचीन किन्तु नवीनता में अन्य उसके सम नहीं ।
इस क्षेत्र से ही विश्व के साहित्य-उपवन हैं बने,
इसको उजाड़ा काल ने आघात कर यद्यपि घने ॥ ८३ ॥

* काशी में एक ऐसे महात्मा थे ।

—कृष्णदास ।

१-Thought reading. २-Mesmerism. ३-Circle.

१२८५

वेद

फैला यहीं से ज्ञान का आलोक सब संसार में,
जागी यहीं थी जग रही जो ज्योति अब संसार में।
इंजील और कुरान आदिक थे न तब संसार में—
हमको मिला था दिव्य वैदिक बोध जब संसार में ॥ ८४ ॥

जिनकी महत्ता का न कोई पा सका है भेद ही,
संसार में प्राचीन सब से हैं हमारे वेद ही।
प्रभु ने दिया यह ज्ञान हमको सृष्टि के आरम्भ में,
है मूल चित्र पवित्रता का सभ्यता के स्तम्भ में ॥ ८५ ॥

विख्यात चारों वेद मानों चार सुख के सार हैं,
चारों दिशाओं के हमारे वे जय-ध्वज चार हैं।
वे ज्ञान-गरिमाऽगार हैं, विज्ञान के भाण्डार हैं;
वे पुण्य-पारावार हैं, आचार के आधार हैं ॥ ८६ ॥

उपनिषद्

जो मृत्यु के उपरान्त भी सबके लिए शान्ति-प्रदा—
है उपनिषद्विद्या हमारी एक अनुपम सम्पदा।
इस लोक को परलोक से करती वही एकत्र है,
हम क्या कहें, उसकी प्रतिष्ठा हो रही सर्वत्र[१] है ॥ ८७ ॥

१ – उपनिषदों के प्रत्येक पद से गम्भीर और नवीन विचार उत्पन्न होते हैं। और सब में उत्कृष्ट, पवित्र और सच्चे भाव विद्यमान हैं। भारतीय वायु-मण्डल हमें घेरे हुए है और अनुरूप आत्माओं के नवीन विचार भी हमारे चारों ओर हैं। समस्त संसार में मूल पदार्थों को छोड़ कर किसी अन्य विद्या का ज्ञान ऐसा लाभदायक और हृदय को उच्च बनाने वाला नहीं है, जैसा कि उपनिषदों का। इसने मेरे जीवन को शान्ति दी है और यह मृत्यु के समय भी मुझे शान्ति देगा। जर्मन तत्त्ववेत्ता—स्कोपनहार।

सूत्र-ग्रन्थ

उन सूत्र-ग्रन्थों का अहा ! कैसा अपूर्व महत्त्व है,
अत्यल्प शब्दों में वहाँ सम्पूर्ण शिक्षा-तत्त्व है ।
उन ऋषि-गणों ने सूक्ष्मता से काम कितना है लिया,
आश्चर्य्य है, घट में उन्होंने सिन्धु को है भर दिया ! ॥ ८८ ॥

दर्शन

उस दिव्यदर्शन-शास्त्र में है कौन हमसे अग्रणी ?
यूनान, यूरुप, अरब आदिक हैं हमारे ही ऋणी१ ।
पाये प्रथम जिनसे जगत ने दार्शनिक संवाद हैं—
गोतम, कपिल, जैमिन, पतञ्जलि, व्यास और कणाद हैं ॥ ८९ ॥

१—(क) यूरोप के प्रथम दार्शनिक प्लेटो और पीथागोरस दोनों ही, दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में भारतवासी हिन्दुओं के निकट सब तरह से ऋणी हैं ।

मानियर विलियम्स ।

(ख) लैथब्रिज साहब ने अपने इतिहास में हिन्दुओं के विषय में लिखते हुए बहुत ही दुराग्रह और पक्षपात का परिचय दिया है; किन्तु, उन्हें भी मानना पड़ा है कि दर्शनशास्त्र के आदि गुरु आर्य्य ही हैं ।

दृष्टान्त¹ दर्शन ही हमारी उच्चता के हैं बड़े,
हैं कह रहे सबसे वही संसार में होकर खड़े—
"हे विश्व! भारत के विषय में फिर कुशङ्काएँ करो-
हम दर्शनों का साक्ष्य पहले आज भी आगे धरो" ॥ ९० ॥

गीता

यह क्या हुआ कि अभी अभी तो रो रहे थे ताप से,
हैं, और अब हँसने लगे वे आप अपने आप से।
ऐं क्या कहा, निज चेतना पर आ गई उनको हँसी,
गीता-श्रवण के पूर्व थी जो मोह-माया में फँसी ॥ ९१ ॥

१—यदि यह बात सत्य हो (जो निस्सन्देह सत्य ही है) कि केवल बड़ी बड़ी जातियाँ ही सच्चे दार्शनिक और पूर्ण दर्शनशास्त्र उत्पन्न कर सकती हैं, तो हिन्दुओं को संसार में सबसे बड़ी जाति मानना ही पड़ेगा। प्रोफेसर मैक्समूलर साहब कहते हैं कि "जो राज्य उन्नति के उच्चतम शिखर पर स्थित होता है, जिस राज्य में भीतरी और बाहरी शत्रुओं के आक्रमण की कुछ भी आशङ्का नहीं होती, जिस राष्ट्र के लोग धन सम्पत्ति की वृद्धि के साथ ही साथ अनेक विद्या-मन्दिर और विश्वविद्यालय स्थापित करके, बिना किसी विघ्न-बाधा के, विद्या की आलोचना में मन लगा सकते हैं, उसी सभ्य समुन्नत राष्ट्र में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव होता है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि कपिल, गोतम और पतञ्जलि जैसे अद्वितीय दार्शनिक उत्पन्न करने के पहले ही हिन्दू-जाति सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी।

हिन्दू सुपीरियरटी।

धर्म्मशास्त्र

रचते कहीं मन्वादि ऋषि वे धर्म्मशास्त्र न जो यहाँ,
कानून१ ताजीरात जैसे आज वे बनते कहाँ ?
उन संहिताओं के विमल वे विधि-निषेध विधान हैं-
या लोक में, परलोक में, वे शान्ति के सोपान हैं ॥ ९२ ॥

नीति

निज नीति-विद्या का हमें रहता यहाँ तक गर्व था-
हम आप जिस पथ पर चलें सत्पथ वही है सर्वथा२ ।
सामान्य नीति समेत ऐसे राजनैतिक ग्रन्थ हैं-
संसार के हित जो प्रथम पुण्याचरण के पन्थ हैं ॥ ९३ ॥

१—बहुत लोगों की राय है कि 'ताज़ीरात हिन्द' की अनेक बातें मनुस्मृति आदि से ली गई हैं । अस्तु, लेखक के कहने का यहाँ पर यही मतलब है कि क़ानून का ज्ञान भी यूरोपवालों को पहले भारतवासियों के द्वारा ही प्राप्त हुआ । जैसा कि एक पिछले नोट में सिद्ध किया जा चुका है । देखिए नोट नं० २ पृष्ठ २५ ।

२—इस पद्य का पूर्वार्द्ध निम्न लिखित श्लोक को लक्ष्य करके लिखा गया है—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा,
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः ।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा,
न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः ॥

उदयनाचार्य्य ।

अर्थात् व्याकरण, तर्क और नीतिशास्त्र में जिस ओर हम चल पड़े वही सन्मार्ग है । जिस दिशा में सूर्योदय हो वही पूर्व दिशा है, दिशा के अधीन होकर सूर्य उदित नहीं होता ।

चाणक्य-से नीतिज्ञ थे हम और निश्चल निश्चयी,
जिनके विपक्षी राजकुल की भी इतिश्री१ होगई ।
है विष्णुशर्म्मा ने घड़े में सिन्धु सचमुच भर दिया—
कहकर कहानी ही जड़ों को पूर्ण पण्डित२ कर दिया ! ॥ ९४ ॥

१—चाणक्य के द्वारा नन्द-वंश के विनाश और चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाने की कथा मुद्राराक्षस नाटक में सविस्तर वर्णित है ।

२—अमरशक्ति नामका एक राजा था । बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नाम के उसके तीन पुत्र थे । वे बड़े मूर्ख थे । उनको पढ़ाने के लिए अमरशक्ति ने अनेकों उपाय किये पर वे न पढ़ सके । इस पर विष्णुशर्म्मा नामक एक नीति-कुशल पण्डित ने उन्हें छः महीने में नीतिज्ञ कर देने का राजा को वचन दिया और मित्र-भेद, मित्र-सम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षित ये पञ्चतन्त्र पढ़ा कर उन महामूर्खों को पूर्ण पण्डित बना दिया ।

पञ्चतन्त्र की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है । इसकी उपयोगिता इसीसे सिद्ध है कि यूरोप की प्रायः तमाम भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया है । इस के अनुवादों के विषय में दत्त साहब लिखते हैं—

इस ग्रन्थ का अनुवाद नौशेरवाँ के राज्य में (५३१—५७२) फ़ारसी में किया गया था । फ़ारसी अनुवाद का उल्था अरबी भाषा में हुआ और अरबी से समीअन सेठ ने सन् १०८० के लगभग इसका यूनानी भाषा में अनुवाद किया । फिर यूनानी से इसका उल्था लैटन भाषा में पोसिनस ने किया । और इसका हिब्रू भाषा में अनुवाद रेबोजोल ने सन् १२५० के लगभग किया । अरबी अनुवाद का एक उल्था स्पेन की भाषा में सन् १२५१ के लगभग प्रकाशित हुआ । जर्मन भाषा में पहला अनुवाद १५ वीं शताब्दी में हुआ और उस समय से इस ग्रन्थ का अनुवाद यूरोप की सब भाषाओं में हो गया है और वह पिलपे वा विडपे की कहानियों के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

ज्योतिष

वृत्तान्त पहले व्योम का प्रकटित हमीं ने था किया,
वह क्रान्ति मण्डल था हमीं से अन्य देशों ने लिया१ ।
थे आर्य्यभट, आचार्य भास्कर-तुल्य ज्योतिर्विद यहाँ,
अब भी हमारे 'मान-मन्दिर' वर्णनीय नहीं कहाँ ? ॥ ९५ ॥

अङ्कगणित

जिस अङ्क-विद्या के विषय में वाद का मुँह बन्द है,
वह भी यहाँ के ज्ञान-रवि की रश्मि एक अमन्द है ।
डर कर कठोर कलङ्क से, वा सत्य के आतङ्क से-
कहते अरब वाले अभी तक "हिन्दसा" ही अङ्क२ से ॥ ९६ ॥

१—प्रोफ़ेसर वेबर और कोलब्रूक साहब ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि चीन और अरब की ज्योतिष विद्या का विकाश भारतवर्ष से ही हुआ है । हिन्दुओं का क्रांति-मण्डल उन्हीं का है । निस्सन्देह उन्हीं से अरब वालों ने उसे लिया था ।

२—(क) इस शास्त्र में हिन्दू लोग संसार की सब जातियों से बढ़ कर हैं । मैंने अनेक भाषाओं के अङ्कों के नामों को सीखा है । परन्तु मैंने किसी जाति में भी हज़ार के आगे के लिए कोई नाम नहीं पाया । परन्तु हिन्दू लोगों में अट्ठारह अङ्क की संख्याओं तक के नाम हैं और वे उसे परार्द्ध कहते हैं ।

एलबरूनी ।

(ख) दशमलव के सिद्धान्त के अनुसार अङ्कों के रक्खे जाने के लिए संसार हिन्दुओं का अनुगृहीत है और इस सिद्धान्त के न होने से गणित शास्त्र का होना ही असम्भव था । पहले पहल अरब लोगों ने अङ्क लिखने

रेखागणित

उन "सुल्व-सूत्रों" के जगत में जन्मदाता हैं हमीं,
रेखागणित के आदि ज्ञाता या विधाता¹ हैं हमीं।
हमको हमारी वेदियाँ पहले इसे दिखला चुकीं—
निज रम्य-रचना-हेतु वे रेखागणित सिखला चुकीं॥ ९७॥

सामुद्रिक और फलित ज्योतिष

आकार देख प्रकार थे हम जान जाते आप हीं,
वे शास्त्र 'सामुद्रिक' सरीखे थे बनाते आप हीं।

की यह रीति हिन्दुओं से ही सीखी। उन्होंने यूरोप में उसका प्रचार किया। प्राचीन यूनानी और रोमन लोग अङ्कों के लिखने की इस रीति को न जानते थे। इसलिए वे अङ्कगणित में उन्नति न कर सके।

आर. सी. दत्त।

(ग) अरब वालों ने यह विद्या हिन्दुओं से ही सीखी थी। इसी कारण इस विद्या को वे 'इल्मे हिन्दसा' अर्थात् हिन्द या भारत की विद्या कहते हैं।

भारतवर्ष का इतिहास।

१—(क) बीजगणित तथा रेखागणित का आविष्कार और ज्योतिष के साथ उनका प्रथम प्रयोग हिन्दुओं के द्वारा ही हुआ।

मानियर विलियम्स।

(ख) संसार रेखागणित के लिये भारतवर्ष का ही ऋणी है, यूनान का नहीं।

डाक्टर थीबो।

(ग) हिन्दुओं ने रेखागणित के मूल नियम निकाले और उसे यूनानियों को सिखलाया।

आर. सी. दत्त।

विज्ञान से भी 'फलित ज्योतिष' हो रहा अब सिद्ध है१,
यद्यपि अविज्ञों से हुआ वह निन्द्य और निषिद्ध है ॥ ९८ ॥

भाषा और व्याकरण

प्राचीन हो जो है न, जिससे अन्य भाषायें बनी;
भाषा हमारी देववाणी श्रुति-सुधा से है सनी ।
है कौन भाषा यों अमर व्युत्पत्ति रूपी प्राण से२ ?
हैं अन्य-भाषा-शब्द उसके सामने म्रियमाण-से ॥ ९९ ॥

१—मद्रास के बी० सूर्य्यनारायण राव बी. ए. बड़े भारी ज्योतिषी हैं । कुण्डली बनाने की फीस ६००) तक आप लेते हैं । आपने विज्ञान से फलित ज्योतिष की सत्यता सिद्ध कर दी है । जिसका आभास सरस्वती के बारहवें भाग की बारहवीं संख्या में फलित ज्योतिष नामक निबन्ध में दिया गया है ।

२— (क) स्केज़ल साहब अपने एक लेख में लिखते हैं कि संसार की प्रचलित भाषाओं में कोई भाषा इतनी पूर्ण नहीं है जितनी कि संस्कृत । इतने शब्दों के धातुओं (Roots) का पता साफ़ साफ़ रीति से किसी भाषा में नहीं मिलता है जितना कि संस्कृत में ।

(ख) डाक्टर वेलंटाइन साहब लिखते हैं कि संस्कृत ही समस्त भाषाओं की जननी है ।

(ग) डब्ल्यू. सी. टेलर साहब की राय है कि संस्कृत की समता, संसार की कोई भाषा नहीं कर सकती । यूरोप की तमाम भाषाएँ, जिनको हम Classical कहते हैं, इसीसे निकली हैं ।

(घ) यूरोप में, इस शताब्दी में एक बड़ी भारी बात यह जानी गई है कि किसी भाषा में जो लाखों शब्द होते हैं उनकी व्युत्पत्ति का पता बहुत थोड़े से मूल शब्दों से लगाया जा सकता है । भारतवर्ष में, २००० वर्ष हुए कि पाणिनि के समय के पहले यह बात जानी जा चुकी थी और इस बड़े वैयाकरण ने अपने समय के संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति भी की थी ।

आर. सी. दत्त ।

निकला जहाँ से आधुनिक वह भिन्न-भाषा तत्त्व है,
रखती न भाषा एक भी संस्कृत-समान महत्त्व है।
पाणिनि-सदृश वैयाकरण संसार भर में कौन है१ ?
इस प्रश्न का सर्वत्र उत्तर उत्तरोत्तर मौन है ॥ १०० ॥

वैद्यक

उस वैद्यविद्या के विषय में अधिक कहना व्यर्थ है,
सुश्रुत, चरक रहते हुए सन्देह रहना व्यर्थ है।
अनुवादकर्ता आज भी उपहार उनके पा रहे,
हैं आर्य्य-आयुर्वेद के सब देश सद्गुण गा रहे२ ॥ १०१ ॥

१—(क) प्रोफेसर मैक्समूलर साहब लिखते हैं कि केवल हिन्दुओं और यूनानियों ने व्याकरणशास्त्र की उन्नति की। परन्तु यूनानियों ने व्याकरण में जो सफलता प्राप्त की, वह पाणिनि के, जो कि संसार भर में सब से बड़ा वैयाकरण हुआ है, ग्रन्थ के आगे कुछ भी नहीं है।

(ख) यह संस्कृत विद्या का ही ज्ञान था जिससे कि इस शताब्दी के यूरोप के विद्वानों ने आर्य भाषा तत्व को निकाला और बौप और ग्रिमसाहबों तथा बहुत से अन्य विद्वानों ने आर्य्य भाषाओं के शब्दों की व्युत्पत्ति उसी भाँति की जैसे कि पाणिनि ने संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति आर्य्यों के इतिहास के उस पूर्वकाल में की थी जब कि एथेन्स और रोम जाने नहीं गये थे। आर. सी. दत्त।

२—(क) इन ग्रन्थों के नाम दूसरे देशों में भी प्रसिद्ध हुए और आठवीं शताब्दी में, हारूँरशीद के समय में, इन ग्रन्थों के अनुवाद से अरब लोग परिचित थे। एक सब से प्राचीन अरब-ग्रन्थकार सेरापियन चरक को 'ज़रक' के नाम से लिखता है। एक और अरब-ग्रन्थकार एविसेना उसे 'सिरक' के नाम से बताता है और रहाजेज़ जो कि एविसेना के पहले हुआ है; उसे 'सरक' के नाम से लिखता है। आर. सी. दत्त।

थे हार जाते अन्य देशी वैद्यवर जिस रोग से-
हम भस्म करते थे उसे बस भस्म* के ही योग से।
थे दूर देशों के नृपति हमको बुलाकर मानते१,
इतिहास साक्षी है, हमें सब थे जगद्गुरु जानते॥ १०२॥

(ख) इल्मे तिब (वैद्यक) के निहायत क़दीम मुसन्निफ़ जिनकी तसानीफ़ अब तक मौजूद है, चरक और सुश्रुत हैं। उनकी किताबों का तर्जुमा अरबी ज़बान में हुआ और ग़ालिब है कि अरबवाले उनका तर्जुमा होते ही तहसील उलूम की तरफ़ मुतवज्जह हुए। अरबी ज़बान के मुसन्निफ़ एलानिया इक़रार करते हैं कि हमने हिन्दोस्तान के तबीबों से बेशक फ़ायदा उठाया है। इब्तिदा में अहल यूरप ने इस इल्म की तालीम उन्हीं (हिन्दुओं) से पाई। और ज़माना हाल में भी दमा की बीमारी में हुक्के में धतूरा पिलाना और कौंच की फली से कीड़ों का इलाज करना उन्हीं से सीखा है।

मौलाना हाली।

(ग) अभी कुछ दिन हुए कि चरक का अँगरेज़ी में अनुवाद करने के उपलक्ष में एक बङ्गाली सज्जन को सरकार ने ६०००) दिये थे।

* रसादिक।

१—जब आज कल भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये विदेशियों की विद्या और निपुणता की आवश्यकता होती है तब २२०० वर्ष पहले सिकन्दर ने अपने यहाँ उन लोगों की चिकित्सा के लिए हिन्दू वैद्यों को रक्खा था जिनकी चिकित्सा यूनानी नहीं कर सके थे। और ११०० वर्ष हुए कि बग़दाद के हारूँरशीद ने अपने यहाँ दो हिन्दू वैद्य रक्खे थे जो अरबी ग्रन्थों में मनका और सलह के नाम से विख्यात हैं। आर. सी. दत्त।

है आज कल की डाक्टरी जिससे महामहिमा मयी,
वह "आसुरी" नामक चिकित्सा है यहीं से ली गई[1]।
नाड़ी-नियम-युत रोग के निश्चित निदान हुए यहाँ,
सब औषधों के गुण समझकर रस-विधान हुए यहाँ ॥१०३॥

१—(क) आयुर्वेद में चिकित्सा के तीन भेद हैं, यथा—

"आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।
शस्त्रैः कषायैर्लोहाद्यैः क्रमेणान्त्या सुपूजिता॥"

किसी किसी ने आसुरी चिकित्सा को राक्षसी भी लिखा है:—

"रसादिभिर्या क्रियते चिकित्सा दैवीति वैद्यैः परिकीर्तिता सा।
सा मानुषी याऽथ कृता फलाद्यैः सा राक्षसी शस्त्रकृता भवेद्या॥"

अर्थात् वैद्य लोग रसादिक से की हुई चिकित्सा को दैवी, फल-मूलादि से की हुई को मानुषी और शस्त्रादि से चीरने-फाड़ने की चिकित्सा को राक्षसी चिकित्सा कहते हैं।

(ख) प्राचीन काल में हिन्दुओं को शस्त्रचिकित्सा (चीरफाड़) करने में सङ्कोच न था। उन्होंने वैद्यक में यूनानियों से कुछ भी नहीं सीखा, वरन् उन्हीं को बहुत कुछ सिखलाया।

आठवीं शताब्दी में संस्कृत से जो पुस्तकें अनुवादित हुईं उन्हीं पर अरब के वैद्यक की नींव पड़ी और सत्रहवीं शताब्दी तक योरप के वैद्य अरब वालों के (वास्तव में हिन्दुओं के) नियमों पर चलते थे। आठवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी तक वैद्यक की जो पुस्तकें योरप में बनती रहीं उनमें चरक के वाक्यों के प्रमाण दिये गये हैं।

डाक्टर हंटर।

(ग) शस्त्र-चिकित्सा में हिन्दुओं ने जो सफलता प्राप्त की थी वह उसी प्रकार आश्चर्यजनक है जिस प्रकार रसायन-शास्त्र की उन्नति में उनकी सफलता।

आनरेबिल अलफेन्स्टन साहब।

कवि और काव्य

कविवर्य्य शेक्सपियर तथा होमर सदा सम्मान्य हैं,
विख्यात फिरदौसी-सदृश कवि और भी अन्यान्य हैं।
पर कौन उनमें मनुज-मन को मुग्ध इतना कर सके—
वाल्मीकि, वेदव्यास, कालीदास जितना कर सके१ ॥१०४॥

इतिहास

संसार भर के ग्रन्थ-गिरि पर चित्त से पहले चढ़ो,
उपरान्त रामायण तथा गीता-ग्रथित भारत पढ़ो।

१—(क) नई रोशनी वाले पाठकगण! आपने इलियड (Illiad) पढ़ा है, दान्ते (Dante) शेक्सपियर (Shakespeare) मिल्टन (Milton) याद किया है, सादी और फ़िरदौसी को कण्ठ कर डाला है; किन्तु हृदयान्वेषण कीजिए और बतलाइए कि कौन-सी कथा हृदय में सरस भावपूर्ण प्रतीत होती है? कौन-सी कथा से हृदय अधिकतर आलोड़ित, प्रोत्साहित और मुग्ध होता है? भीष्मपितामह की अपूर्व वीरता, दुःखिनी सीता की अपूर्व पातिव्रत्य-कथा प्रत्येक हिंदू-सन्तान की नस नस में गुँथ रही है। हे परमेश्वर! यह कथा-हिन्दू जाति कभी न भूले।

आर. सी. दत्त।

(ख) 'शकुन्तला' काव्य के विख्यात कर्त्ता कालिदास ने प्रेम-पात्रों के अन्तःकरणों पर प्रभाव रखने वाले स्वभाव का उत्कृष्ट दिग्दर्शन किया है। विचार-तरङ्ग-मार्दव और कल्पना शक्ति की उदात्त उत्पत्ति, इन दो बातों ने उनको सम्पूर्ण राष्ट्र (या जगत्) के कवियों में अत्यंत उच्च पद दिया है।

जर्मन तत्ववेत्ता हंबोल्ड।

कोई बतादो फिर हमें, ध्वनि सुन पड़ी ऐसी कहाँ१ ?
हे हरि ! सुनें केवल यही ध्वनि अन्त में हम हों जहाँ ॥१०५॥
यद्यपि अतुल, अगणित हमारे ग्रन्थ-रत्न नये नये—
बहु बार अत्याचारियों से नष्ट-भ्रष्ट किये गये२ ।
पर हाय ! आज रहीं सहीं भी पोथियाँ यों कह रहीं—
क्या तुम वही हो ! आज तो पहचान तक पड़ते नहीं ॥१०६॥

१—कितने हज़ार वर्षों से यह पुण्य कथा (रामायण और महाभारत) भारतवर्ष में ध्वनित और प्रतिध्वनित हो रही है। सुन्दर वङ्गदेश में, तुषार-पूर्ण पर्वत-वेष्टित काश्मीर में, वीरप्रसू राजस्थान और महाराष्ट्र भूमि में, सागर-प्रक्षालित कर्नाटक और द्रविड़ में कितने हज़ार वर्षों से यह गीत ध्वनित हो रहा है। हम लोग यह शिक्षा कभी न भूलें। गौरव के दिनों में इन्हीं अनन्त गीतों ने हमारे पूर्वजों को प्रोत्साहित किया था। हस्तिना, अयोध्या, मिथिला, काशी, मगध और उज्जयिनी प्रभृति देशों को इन्हीं गीतों ने वीरत्व और यश से प्लावित किया था। दुर्दिनों में इन्हीं गीतों को गाकर समरसिंह, सङ्ग्रामसिंह और प्रतापसिंह ने धर्म्म की रक्षा के लिये हृदय का शोणित दान किया था। × × × × × × × आज दीन दुर्बल हिन्दुओं के आश्वासन का स्थान यही पूर्व गीत मात्र हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि विपद में, विषाद में, दुर्बलता में हम लोग यह पूर्व कथा न भूलें, जब तक जातीय जीवन रहे हृदय-तन्त्री इन्हीं गीतों के साथ गुञ्जारती रहे।

आर. सी. दत्त ।

२—(क) इतिहास बतलाता है कि हमारे अनेक बड़े बड़े पुस्तकालय अत्याचारियों ने जलवा दिये ! 'तबक़ाते नासरी' में लिखा है कि क़ुतुबुद्दीन ऐबक के ज़माने में जब विहार फ़तह हुआ तब एक लाख के क़रीब तो सिर्फ़ ब्राह्मण ही क़त्ल किये गये थे और हिन्दुओं का एक

कला-कौशल

अब लुप्त-सी जो हो गईं रक्षित न रहने से यहाँ,
सोचो, तनिक कौशल्य की इतनी कलाएँ थीं कहाँ ?
लिपि-बद्ध चौंसठ नाम उनके आज भी हैं दीखते,
दश-चार विद्या-विज्ञ होकर हम जिन्हें थे सीखते ॥१०७॥

शिल्प

हाँ, शिल्प-विद्या वृद्धि में तो थी यहाँ यों अति हुई—
होकर महाभारत इसीसे देश को दुर्गति हुई !
मय-कृत भवन में यदि सुयोधन थल न जल को जानता—
तो पाण्डवों के हास्य पर यों शत्रुता क्यों ठानता ?॥१०८॥

प्रस्तर-विनिर्मित पुर यहाँ थे और दुर्ग बड़े बड़े[१],
अब भी हमारे शिल्प गुण के चिन्ह कुछ कुछ हैं खड़े ।

क़दीमी कुतुबख़ाना जिसमें बहुत पुरानी पुरानी किताबें मौजूद थीं, जला दिया गया ।

(ख) सन् १२१२ ई० में बख्तियार ख़िलजी के सेनानायक मुहम्मद-बिनसाम के हुक्म से उदन्तापुरी, विहार, नालन्दा, और बुद्धगया के पुस्तकालय जला दिये गये ।

(ग) अलाउद्दीन ख़िलजी ने आन्हिलवाड़ पाटन का मशहूर पुस्तकालय जलवा डाला । और तवारीख़ फ़ीरोजशाही से ज्ञात होता है कि फीरोज़ तुग़लक़ ने कोहाने में बहुत-सी संस्कृत-पुस्तकें जलवा डालीं ।

(घ) "सैर मुताख़रीन" से मालूम होता है कि औरङ्गज़ेब जहाँ जो संस्कृत-पुस्तक पाता था, जलवा देता था ।

१—(क) ऋग्वेद में मं० ४ सू० ३० ऋ० २० आदि कई जगहों पर पत्थर के बने हुए सैकड़ों नगरों का वर्णन है और मं० ७ सू० ३,

भू-गर्भ से जब तब निकलती वस्तुएँ ऐसी यहाँ—
जो पूछ उठतो हैं कि ऐसी थी हुई उन्नति-कहाँ ? ॥ १०९ ॥
वह सिन्धु-सेतु बचा अभी तक, दक्षिणी मन्दिर बचे ?
कब और किसने, विश्व में, यों शिल्प-चित्र कहाँ रचे ?
वह उच्च* यमुनास्तम्भ लोहस्तम्भ-युक्त निहार लो[1],
प्राचीन भारत की कला-कौशल्य-सिद्धि विचार लो ॥ ११० ॥

ऋ० ७, मं० ७ सू० १५ ऋ० १४, मं० ७ सू० ९५ ऋ०१ आदि में लोहे के नगरों आदि का भी बर्णन है जिससे हम लोगों को बड़े मज़बूत क़िले समझने चाहिए। आर. सी. दत्त ।

(ख) भारतवासी शिल्प में बड़े चतुर थे जैसा कि स्वच्छ वायु में रहनेवाले और बहुत ही उत्तम जल पीने वाले लोगों से आशा की जा सकती है। मेगास्थनीज़ ।

* कुतुबमीनार ।

१—कुतुबमीनार के पास जो लोहे का अद्भुत खम्भा है, उसके विषय में डाक्टर फरगुसन लिखते हैं—

"यह हमारी आँख खोल कर बिना सन्देह के बतलाता है कि हिन्दू लोग उस समय में लोहे के इतने बड़े खम्भे बनाते थे जो कि योरप में बहुत इधर के समय में भी नहीं बने हैं और जैसे कि अब भी बहुत कम बनते हैं। और इसके कुछ ही शताब्दी उपरान्त इस लाट के बराबर के खम्भों को कनारिक के मन्दिर में धरन की भाँति लगे हुए मिलने से हमको विश्वास करना चाहिये कि वे लोग इस धातु का काम बनाने में अपने बाद के कारीगरों की अपेक्षा बड़े दक्ष थे और यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि १४०० वर्ष हवा और पानी में रह कर उसमें अब तक भी मोरचा नहीं लगा है। और उसका सिरा तथा खुदा हुआ लेख अब तक भी वैसा ही स्पष्ट और वैसा ही गहरा है जैसा कि वह १४०० वर्ष पहले बनाया गया था।"

वह अभ्रभेदी स्तूप अब भी उच्च होकर कह रहे—
संसार के किस शिल्प ने जल-पात इतने हैं सहे ?
शत शत गुहाएँ साथ ही गुञ्जार करके कह रहीं—
प्राचीन ही वा शिल्प इतना कौन है ? कोई नहीं ॥ १११ ॥

हैं जो यवन राजत्व के वे कीर्ति-चिन्ह बढ़े चढ़े—
वे भी अधिकतर हैं हमारे शिल्पियों के ही गढ़े ।
अन्यत्र भी तो है यवन-कुल की बिपुल कारीगरी,
है किन्तु भारत के सदृश क्या वह मनोहरता भरी ? ॥११२॥

चित्रकारी

निज चित्रकारी के विषय में क्या कहें, क्या क्रम रहा;
प्रत्यक्ष है या चित्र है, यों दर्शकों को भ्रम रहा ।
इतिहास, काव्य, पुराण, नाटक, ग्रन्थ जितने दीखते,
सब से विदित है, चित्र-रचना थे यहाँ सब सीखते ॥११३॥

होती न यदि वह चित्र-विद्या आदि से इस देश में—
तो धैर्य्य धरते किस तरह प्रेमी विरह के क्लेश में ?
अब तक मिलेगा सूक्ष्म वर्णन चित्र के प्रति भाग का,
साहित्य में भी चित्र-दर्शन हेतु है अनुराग का ॥ ११४ ॥

थी चित्रकार यहाँ स्त्रियाँ भी चित्ररेखा-सी कभी,
अङ्कन कुशल नायक हमारे नाटकों में हैं सभी ।
लिखते कहीं दुष्यन्त हैं भोली प्रिया की छवि भली,
करती कहीं प्रिय-चित्र-रचना प्रेम से रत्नावली ॥ ११५ ॥

अब चित्रशालाएँ हमारी नाम शेष हुईं यहाँ,
पर आज भी आदर्श उनके हैं अनेक जहाँ तहाँ।
अब भी अजंटा की गुफाएँ चित्त को हैं मोहती;
निज दर्शकों के धन्य रव से गूँज कर हैं सोहती ॥११६॥

मूर्तिनिर्माण

होता न मूर्ति-विधान यदि साधन हमारे देश का—
पूजन न षोडश-विधि यहाँ होता सगुण सर्वेश का।
अनुभव न होता एक सीमा में असीमाधार का,
होता निदर्शन भी न उस हृदयस्थ रूपोद्गार का ॥ ११७॥

निज रूप से भी दूसरे जन जिस समय अज्ञान थे—
हम उस समय प्रभु-मूर्ति का प्रत्यक्ष करते ध्यान थे।
ऐसा न करते तो भला हम भक्ति प्रकटाते कहाँ ?
दर्शन-विलम्बाकुल दृगों को हाय ! ले जाते कहाँ ?॥ ११८ ॥

अब तक पुराने खँडहरों में, मन्दिरों में भी कहीं,
बहु मूर्तियाँ अपनी कला का पूर्ण परिचय दे रहीं।
प्रकटा रही हैं भग्न भी सौन्दर्य्य की परिपुष्टता,
दिखला रही हैं साथ ही दुष्कर्मियों की दुष्टता ॥ ११९ ॥

सङ्गीत

लोकोक्ति है 'गाना तथा रोना किसे आता नहीं',
पर गान जो शास्त्रीय है उत्पत्ति उसकी है यहीं।
आकर भयङ्कर भाव जिस सङ्गीत में अब हैं भरे,
हरि को रिझा कर हम उसीसे साम गान किया करे ॥१२०॥

आती सु-चेतनता जिन्हें सुन कर जड़ों में भी अहो !
आईं कहाँ से गान में वे राग-रागिनियाँ कहो ?
हैं सब हमारी ही कलाएँ ललित और मनोहरी,
थी कौतुकों में भी हमारे ऐन्द्रजालिकता भरी ॥ १२१ ॥

अभिनय

अभिनय-कला के सूत्रधर भी आदि से ही आर्य्य हैं—
प्रकटे भरत मुनि-से यहाँ इस शास्त्र के आचार्य्य हैं।
संसार में अब भी हमारी है अपूर्व शकुन्तला,
है अन्य नाटक कौन उसका साम्य कर सकता भला१ ?॥१२२॥

१—(क) जिसने संस्कृत में इस (शकुन्तला) नाटक को पढ़ा है, वह, हिन्दू ही नहीं चाहे कोई भी क्यों न हो, उसकी यह सम्मति होगी कि नम्र और कोमल हृदयवाली वनवासिनी शकुन्तला से बढ़कर मृदु और मनोहर कल्पना मनुष्य की लेखनी से कभी नहीं निकली।

आर. सी. दत्त।

(ख) शकुन्तला वह चीज है जो यौवनावस्था में उत्पन्न हुई अनुरागरूपी कली को प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न हुए भाव रूपी फल से मिला देती है। शकुन्तला वह चीज है जो पृथ्वी का स्वर्ग के साथ मेल कराती है।

कविवर गेटी।

(ग) जिस समय सर विलियम जौन्स ने शकुन्तला का अनुवाद अँग्रेज़ी में किया था उस समय तक योरपवाले भारतवासियों को निरा असभ्य समझते थे। किन्तु इस अनुवाद ने योरप के विद्वानों की आँखें खोल दीं। शकुन्तला की कविता, उसके पात्रों का चरित्र, उसकी भाव-प्रवणता देख कर वे लोग मुग्ध हो गये।

हमारी वीरता

थे कर्म्मवीर कि मृत्यु का भी ध्यान कुछ धरते न थे,
थे युद्धवीर कि काल से भी हम कभी डरते न थे।
थे दानवीर कि देह का भी लोभ हम करते न थे,
थे धर्म्मवीर कि प्राण के भी मोह पर मरते न थे॥१२३॥

वे सूर्य्यवंशी, चन्द्रवंशी वीर थे कैसे बली,
जो थे अकेले ही मचाते शत्रु-दल में खलबली।
होते न वे यदि चक्रवर्ती भूप दिग्विजयी यहाँ—
होते भला फिर 'अश्वमेध' कि 'राजसूय' कहो कहाँ?॥१२४॥

थे भीम-तुल्य महाबली, अर्जुन-समान महारथी,
श्रीकृष्ण लीलामय हुए थे आप जिनके सारथी।
उपदेश गीता का हमारा युद्ध का ही गीत है,
जीवन-समर में भी जनों को जो दिलाता जीत है॥ १२५॥

हम थे धनुर्वेदज्ञ जैसे और वैसा कौन था?
जो शब्द-वेधी बाण छोड़े शूर ऐसा कौन था?

शकुन्तला के अँगरेज़ी अनुवाद के भी अनुवाद जर्मन और फ्रेंच आदि अनेक भाषाओं में होगये, जिन्हें पढ़कर उन उन देशों के वासियों ने भी उसकी श्रेष्ठता एकस्वर से स्वीकार की। वे यह भी जान गये कि जिस ग्रीक भाषा के साहित्य के वे लोग इतने क़ायल हैं, संस्कृत का साहित्य उससे भी किसी किसी अंश में आगे बढ़ा हुआ है। प्राचीनता में तो संस्कृत-साहित्य की बराबरी किसी भाषा का साहित्य नहीं कर सकता।

हाँ, मत्स्य जैसे लक्ष्य-वेधक धीर-धन्वी थे यहाँ,
रिपु को गिरा कर अस्त्र पीछे लौट आते थे कहाँ ?॥१२६॥

थी चञ्चला की-सी चमक या शीघ्रता सन्धान की,
कृतहस्तता ऐसी कि गति थी हाथ में हीं बाण की ।
मुँह खोल कुत्ता भूँकने में बन्द फिर जब तक करे—
मर जाय मुख तूणीर-सा, पर बात क्या जो वह मरे१!॥१२७॥

जिसके समक्ष न एक भी विजयी सिकन्दर की चली—
वह चन्द्रगुप्त महीप था कैसा अपूर्व महाबली ?
जिससे कि सिल्यूकस* समर में हार तो था ले गया,
कान्धार आदिक देश देकर निज सुता था दे गया !॥१२८॥

जो एक सौ सौ से लड़ें ऐसे यहाँ पर वीर थे,
सम्मुख समर में शैल-सम रहते सदा हम धीर थे ।

१—एकलव्य नामक निषाद-बालक, अपने गुरु द्रोणाचार्य्य की मूर्ति के सम्मुख, वन में धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा था । शिकार खेलने के लिए आये हुए पांडवों का एक कुत्ता घूमता हुआ उधर जा निकला । एकलव्य को देखकर वह भौंकने लगा । इस पर एकलव्य अपनी धनुर्विद्या की परीक्षा करने के लिए, उसके मुँह में सात बाण मार कर उसका भौंकना मात्र बन्द कर दिया । महाभारत के आदिपर्व में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है ।

* सिकन्दर का सेनापति ।

शङ्का न थी, जब जब समर का साज भारत ने सजा—
जावा, सुमात्रा, चीन, लङ्का सब कहीं डंका बजा१ ॥१२९॥

मोहे विदेशी वीर भी जिस वीरता के गान से,
जिस पर बने हैं ग्रन्थ 'रासो' और 'राजस्थान'-से।
थी उष्णता वह उस हमारे शेष शोणित की अहा!
जो था महाभारत-समर में नष्ट होते बच रहा ॥१३०॥

रक्षक यवन साम्राज्य के भी राजपूत रहे यहाँ,
पड़ती कठिनता थी जहाँ जाते वही तो थे वहाँ।
नृप मान-कृत काबुल-विजय की बात सबको ज्ञात है,
दृढ़ता शिवाजी के निकट जयसिंह की विख्यात है ॥१३१॥

क्षत्राणियाँ भी शत्रुओं से हैं यहाँ निर्भय लड़ीं,
इतिहास में जिनकी कथायें हैं अनेक भरी पड़ीं।

१—(क) भारत महासागर और प्रशान्त महासागर जहाँ पर मिलते हैं, वहाँ पर सुमात्रा, जावा आदि कई द्वीप हैं। किसी समय इन द्वीपों में हिन्दुओं का राज्य था। संस्कृत भाषा और हिन्दूधर्म्म ने यहाँ पर अपना अटल राज्य जमा लिया था।

(ख) महाराज कनिष्क ने चीनदेश पर आक्रमण किया और विजय पाई। इस पर चीन-सम्राट् ने उनके पास अपने लड़के को ज़मानत के तौर पर रक्खा। इस चीन-राजकुमार के द्वारा भी चीन में बौद्ध धर्म्म का बहुत प्रचार हुआ।

(ग) जिस समय मेगास्थनीज़ भारतवर्ष में आया उस समय लङ्का में हिन्दुओं का ही राज्य था।

देकर विदा युद्धार्थ पति को प्रेमवल्ली-सी खिली,
यदि फिर न भेंट हुई यहाँ तो स्वर्ग में झट जा मिली ॥१३२॥

वह सामरिक सिद्धान्त भी औदार्य-पूर्ण पवित्र था—
थी युद्ध में ही शत्रुता, अन्यत्र वैरी मित्र था !
जय-लोभ में भी छल-कपट आने न पाता पास था,
प्रतिपक्षियों को भी हमारे सत्य का विश्वास था ॥१३३॥

पाते न थे जय युद्ध में ही हम सुयश के साथ में,
इन्द्रिय तथा मन भी निरन्तर थे हमारे हाथ में।
हम धर्म्म-धनु से भक्ति-शर भी छोड़ने में सिद्ध थे,
अतएव अक्षर-लक्ष्य भी करते निरन्तर विद्ध थे ॥१३४॥

यद्यपि रहे हम वीर ऐसे—विश्व को जय कर सकें,
ऐसे नहीं थे जो समर में शक्र को भी डर सकें।
परराज्य को तो थे सदा हम तुच्छ तृण-सा मानते,
लाचार होकर ही कभी लङ्का-सदृश रण ठानते ॥१३५॥

शक्ति का उपयोग

अन्याय-अत्याचार करना तो किसी पर दूर है,
जिसका किया हमने किया उपकार ही भरपूर है।
पर-पीड़ितों का त्राण कर जो दुःख हम खोते नहीं—
तो आज हिन्दुस्तान में ये पारसी होते नहीं[1] ॥१३६॥

१—पारसियों का फ़ारस में राज्य था। तीसरे इसदीगर्द के समय में अरब वालों ने उन पर चढ़ाई की। उनके मन्दिर आदि तोड़ फोड़ डाले। मरो या मुसलमान बनो, यही शर्त थी। लाखों पारसी मारे गये, करोड़ों

जाकर कहाँ हमने जलाई आग युद्ध-अशान्ति की ?
थे घूमते सर्वत्र पर हमने कहाँ पर क्रान्ति की ?
करते वही थे हम कि जिससे शान्ति सुख पावें सभी,
स्वार्थान्ध होकर, पर-हित-व्रत छोड़ सकते थे कभी ? ॥१३७॥

भूले हुओं को पथ दिखाना यह हमारा कार्य्य था,
राजत्व क्या है, जगत हमको मानता आचार्य्य था।
आतङ्क से पाया हुआ भी मान कोई मान है ?
खिंच जाय जिस पर मन स्वयं सच्चा वही बलवान है ॥१३८॥

राजत्व और शासन

हम भूप होकर भी कभी होते न भोगाऽसक्त थे,
रह कर विरक्त विदेह जैसे आत्मयोगाऽसक्त थे।
कर्तव्य के अनुरोध से ही कार्य्य करते थे सभी,
राजत्व में भी फिर भला हम भूल सकते थे कभी ? ॥१३९॥

हाँ मेदिनी-पति भी यहाँ के भक्त और विरक्त थे,
होते प्रजा के अर्थ ही वे राज्यकार्य्यासक्त थे।
सुत-तुल्य ही वे सौम्य उसको मानते थे सर्वदा,
होता प्रजा का अर्थ ही 'सन्तान' संस्कृत में सदा ॥ १४० ॥

मुसलमान हो गये; कुछ भारत की ओर भाग आये। यहाँ सन् ७१७ के लगभग गुजरात के हिन्दू नरेश यादवराना ने उन्हें शरण देकर संजान नामक नगर में बसाया। संजान इस समय उजाड़ पड़ा है।

पारसियों का इतिहास।

देते प्रजा-हित हो बढ़ा कर प्राप्त-कर वे सर्वथा,
ले भूमि से जल रवि उसे देता सहस्र गुना यथा।
बन कर मृत-स्थानीय भी हरते प्रजा का सोच थे,
करते तदर्थ न पुत्र के भी त्याग१ में सङ्कोच थे ॥१४१॥
"हैं मद्यपी कायर न मेरे राज्य में तस्कर कहीं,
व्यभिचारिणी तो फिर कहाँ जब एक व्यभिचारी नहीं।"
यों सत्यवादी नृप बिना संकोच कहते थे यहाँ२,
कोई बतादे विश्व में शासक हुए ऐसे कहाँ? ॥१४२॥

१-(क) प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

रघुवंश।

(ख) येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

शकुन्तला।

(ग) महाराज सगर का, प्रजा को कष्ट देने के कारण अपने पुत्र असमंजस को निकाल देना प्रसिद्ध है—

पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासितः पुरात्।

वाल्मीकि।

२-जब केकय देश के राजा अश्वपति के यहाँ सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न और उद्दालक आदि महर्षि आये तो अश्वपति ने उनकी यथोचित पूजा की और फिर अपने यहाँ ठहरने के लिये प्रार्थना करते हुए कहाः—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" इत्यादि।

छान्दोग्योपनिषद्।

प्राचीन भारत की एक झलक

समयावरण से पार करके ऐतिहासिक दृष्टि को,
जो देखते हैं आज भी हम पूर्वकालिक सृष्टि को।
तो दीखता है दृश्य ऐसा भारतीय-विकास का,
प्रतिबिम्ब एक सजीव है जो स्वर्ग या आकाश का ॥१४३॥

भारतभूमि

ब्राह्मी-स्वरूपा, जन्मदात्री, ज्ञान-गौरव-शालिनी,
प्रत्यक्ष लक्ष्मीरूपिणी, धन-धान्य-पूर्णा,पालिनी।
दुर्द्धर्ष रुद्राणी स्वरूपा शत्रु-सृष्टि-लयङ्करी,
वह भूमि भारतवर्ष की है भूरि भावों से भरी ॥१४४॥

वे ही नगर, वन, शैल, नदियाँ जो कि पहले थीं यहाँ—
हैं आज भी, पर आज वैसी जान पड़ती हैं कहाँ?
कारण कदाचित् है यही—बदले स्वयं हम आज हैं,
अनुरूप ही अपनी दशा के दीखते सब साज हैं ॥१४५॥

भवन

चित्रित घनों से होड़ कर जो व्योम में फहरा रहे—
वे केतु उन्नत मन्दिरों के किस तरह लहरा रहे!
इन मन्दिरों में से अधिक अब भूमि-तल में दब गये,
अवशिष्ट ऐसे दीखते हैं—अब गये या तब गये! ॥१४६॥

जल-वायु

पीयूष-सम पीकर जिसे होता प्रसन्न शरीर है,
आलस्य-नाशक, बल-विकाशक उस समय का नीर है।

है आज भी वह, किन्तु अब पड़ता न पूर्व प्रभाव है,
यह कौन जाने नीर बदला या शरीर-स्वभाव है ? ॥१४७॥

उत्साहपूर्वक दे रहा जो स्वास्थ्य वा दीर्घायु है,
कैसे कहें, कैसा मनोरम उस समय का वायु है ।
भगवान जानें, आज कल वह वायु चलता ही नहीं,
अथवा हमारे पास होकर वह निकलता ही नहीं ?॥१४८॥

प्रभात

क्या ही पुनीत प्रभात है, कैसी चमकती है मही;
अनुरागिणी ऊषा सभी को कर्म्म में रत कर रही ।
यद्यपि जगाती है हमें भी देर तक प्रति दिन वही,
पर हम अविध निद्रा-निकट सुनते कहाँ उसकी कही ?॥१४९॥

गङ्गादि नदियों के किनारे भीड़ छवि पाने लगी,
मिल कर जल-ध्वनि में गल-ध्वनि अमृत बरसाने लगी।
सस्वर इधर श्रुति-मन्त्र लहरी, उधर जल-लहरी अहा !
तिस पर उमङ्गों की तरङ्गें, स्वर्ग में अब क्या रहा ?॥१५०॥

दान

सुस्नान के पीछे यथाक्रम दान की बारी हुई,
सर्वस्व तक के त्याग की सानन्द तैयारी हुई !
दानी बहुत हैं किन्तु याचक अल्प हैं उस काल में,
ऐसा नहीं जैसी कि अब प्रतिकूलता है हाल में ॥१५१॥

दिन कर द्विजों से अर्घ्य पाकर उठ चला आकाश में,
... अब स्वर्ण-वर्ण-प्रकाश में ।

वह आन्तरिक आलोक इस आलोक में ही मिल गया,
रवि का मुकुट धारण किया, स्वाधीन भारत खिल गया ॥१५२॥

गोपालन

जो अन्य धात्री के सदृश सबको पिलातीं दुग्ध हैं,
(है जो अमृत इस लोक का, जिस पर अमर भी मुग्ध हैं।)
वे धेनुएँ प्रत्येक गृह में हैं दुही जाने लगीं—
या शक्ति की नदियाँ वहाँ सर्वत्र लहराने लगीं ॥१५३॥

घृत आदि के आधिक्य से बल-वीर्य्य का सु-विकास है,
क्या आज कल का-सा कहीं भी व्याधियों का वास है?
है उस समय गो-वंश पलता, इस समय मरता वही!
क्या एक हो सकती कभी यह और वह भारत मही?॥१५४॥

होमाग्नि

निर्म्मल पवन जिसकी शिखा को तनिक चञ्चल कर उठी—
होमाग्नि जल कर द्विज-गृहों में पुण्य-परिमल भर उठी।
प्राची दिशा के साथ भारतभूमि जगमग जग उठी,
आलस्य में उत्साह की-सी आग देखो, लग उठी ॥१५५॥

देवालय

नर-नारियों का मन्दिरों में आगमन होने लगा,
दर्शन, श्रवण, कीर्तन, मनन से मग्न मन होने लगा।
ले ईश-चरणामृत मुदित राजा-प्रजा अति चाव से—
[illegible]

श्रद्धा सहित किस भाँति हरि का पुण्य पूजन हो रहा,
वर वेद-मन्त्रों में मनोहर कीर्ति-कूजन हो रहा।
अखिलेश की उस आर्तिहारिणी आरती को देख लो,
असमर्थ, मूक-समान, मुखरा भारती को देख लो ॥१५७॥

अतिथि-सत्कार

अपने अतिथियों से वचन जाकर गृहस्थों ने कहे—
"सम्मान्य! आप यहाँ निशा में कुशलपूर्वक तो रहे?
हमसे हुई हो चूक जो कृपया क्षमा कर दीजिए—
अनुचित न हो तो, आज भी, यह गेह पावन कीजिए" ॥१५८॥

पुरुष

पुरुष-प्रवर उस काल के कैसे सदाशय हैं अहा!
संसार को उनका सुयश कैसा समुज्वल कर रहा!
तन में अलौकिक कान्ति है, मन में महा सुख-शान्ति है;
देखो न, उनको देख कर होती सुरों की भ्रान्ति है!!! ॥१५९॥

मस्तिष्क उनका ज्ञान का, विज्ञान का भाण्डार है,
है सूक्ष्म बुद्धि-विचार उनका, विपुल बल-विस्तार है।
नव नव कलाओं का कभी लोकार्थ आविष्कार है,
अध्यात्म तत्वों का कभी उद्धार और प्रचार है ॥१६०॥

स्त्रियाँ

पूजन किया पति का स्त्रियों ने, भक्ति-पूर्ण विधान से,
अञ्चल पसार, प्रणाम कर, फिर की विनय भगवान से—
"विश्वेश! हम अबला जनों के बल तुम्हीं हो सर्वदा,
पतिदेव में मति, गति तथा दृढ़ हो हमारी रति सदा" ॥१६१॥

हैं प्रीति और पवित्रता की मूर्ति-सी वे नारियाँ,
हैं गेह में वे शक्तिरूपा, देह में सुकुमारियाँ,
गृहिणी तथा मन्त्री स्वपति की, शिक्षिता हैं वे सती,
ऐसी नहीं हैं वे कि जैसी आज कल की श्रीमती ॥१६२॥

घर का हिसाब-किताब सारा है उन्हीं के हाथ में,
व्यवहार उनके हैं दयामय सब किसी के साथ में।
वे पाक-शास्त्र-विशारदा हैं और वैद्यक-जानतीं,
सबको सदा सन्तुष्ट रखना धर्म्म अपना मानतीं ॥१६३॥

आलस्य में अवकाश को वे व्यर्थ ही खोती नहीं,
दिन क्या, निशा में भी कभी पति से प्रथम सोती नहीं।
सीना, पिरोना, चित्रकारी जानती हैं वे सभी—
सङ्गीत भी, पर गीत गन्दे वे नहीं गातीं कभी ॥१६४॥

संसार-यात्रा में स्वपति की वे अटल अश्रान्ति हैं,
हैं दुःख में वे धीरता, सुख में सदा वे शान्ति हैं।
शुभ सान्त्वना हैं शोक में वे और ओषधि रोग में,
संयोग में सम्पत्ति हैं, बस हैं विपत्ति वियोग में ॥१६५॥

सन्तान

जब हैं स्त्रियाँ यों देवियाँ, सन्तान क्यों उत्तम न हो ?
उन बालकों के सरल, सुन्दर भाव तो देखो, अहो !
ऊषागमन से जाग वे भी ईश-गुण गाने लगे—
या कञ्ज फूले देख वन्दी भृङ्ग उड़ जाने लगे ! ॥१६६॥

हैं हृष्ट-पुष्ट शरीर से, माँ-बाप के वे प्राण हैं—
जो सर्वदा करते दृगों को भाँति उनका त्राण हैं।
वे जायँ जब तक गुरुकुलों में, ज्ञान का घर है जहाँ—
तब तक उन्हें कुछ कुछ पढ़ातीं आप माताएँ यहाँ।।१६७।।

है ठीक पुत्रों के सदृश ही पुत्रियों का मान भी,
क्या आज की-सी है दशा, जो हो न उनका ध्यान भी !
हैं उस समय के जन न अब-से जो उन्हें समझें बला !
होंगे न दोनों नेत्र किसको एक-से प्यारे भला ?।। १६८।।

देखो, अहा वे पुत्रियाँ हैं या विभव की वृद्धियाँ,
अवतीर्ण मानों हैं हुईं प्रत्यक्ष उनके ऋद्धियाँ।
हा ! अब उन्हींके जन्म से हम डूबते हैं शोक में,
पर हो न उनका जन्म तो हों पुत्र कैसे लोक में ?।।१६९।।

तपोवन

मृग और सिंह तपोवनों में साथ ही फिरने लगे,
शुचि होम-धूम उठे कि सुन्दर सुरभि-घन घिरने लगे !
ऋषि-मुनि मुदित मन से यथा-विधि हवन क्या करने लगे—
उपकार मूलक पुण्य के भाण्डार-से भरने लगे।।१७०।।

वे सौम्य ऋषि, मुनि आज कल के साधुओं जैसे नहीं;
कोई विषय जिनसे छिपा हो विज्ञ वे ऐसे नहीं।
हस्तामलक-जैसे उन्हें प्रत्यक्ष तीनों काल हैं,
शिवरूप हैं, तोड़े उन्होंने बन्धनों के जाल हैं।।१७१।।

वे ग्रन्थ जो सर्वत्र ही गुरु-मान से मण्डित हुए-
पढ़ कर जिन्हें संसार के तत्त्वज्ञजन पण्डित हुए।
जो आज भी थोड़े बहुत हैं नष्ट होने से बचे,
हैं वे उन्हीं तप के धनी ऋषि और मुनियों के रचे॥ १७२॥

कुशपाणि पाकर भी उन्हें डरता स्वयं वज्री सदा,
है तुच्छ उनके निकट यद्यपि उस सुरप की सम्पदा।
यद्यपि उटजवासी तदपि वह तत्त्व उनके पास है,
आकर अलेक्ज़ेंडर-सदृश सम्राट बनता दास है[1]!॥१७३॥

गुरुकुल

विद्यार्थियों ने जागकर गुरुदेव का वन्दन किया,
निज नित्यकृत्य समाप्त करके अध्ययन में मन दिया।
जिस ब्रह्मचर्य-व्रत बिना हैं आज हम सब रो रहे-
उसके सहित वे धीर होकर वीर भी हैं हो रहे॥ १७४॥

१—जिस समय सिकन्दर भारतवर्ष में आया था उस समय यहाँ दण्डी नाम के एक तपस्वी ब्राह्मण थे। वे मुनिवृत्ति धारण करके वन में रहते थे। उनकी प्रशंसा सुन कर सिकन्दर ने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। दण्डी को लेने के लिए दूत भेजे गये। किन्तु उन्होंने आने से इन्कार किया। अन्त में स्वयं सिकन्दर ही उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और शिष्यभाव से उनके द्वारा अनेक उपदेश सुन कर उसने अपने को कृतकृत्य समझा। इस घटना का उल्लेख कर के मेगास्थनीज़ कहता है—"जिसने (सिकन्दर ने) अनेक जातियों को परास्त किया था वह भारतवर्ष के, एक नग्न मनुष्य से परास्त हो गया!"

पाठ

आधार आर्यों के अटल जातीय-जीवन-प्राण का—
है पाठ कैसा हो रहा श्रुति, शास्त्र और पुराण का।
हे राम! हिन्दू जाति का सब कुछ भले ही नष्ट हो,
पर यह सरस सङ्गीत उसका फिर यहाँ सु-स्पष्ट हो ॥ १७५ ॥

फ़ीस

पढ़ते सहस्रों शिष्य हैं पर फ़ीस ली जाती नहीं,
वह उच्च शिक्षा तुच्छ धन पर बेच दी जाती नहीं।
दे वस्त्र-भोजन भी स्वयं कुलपति* पढ़ाते हैं उन्हें,
बस, भक्ति से सन्तुष्ट हो दिन दिन बढ़ाते हैं उन्हें॥ १७६ ॥

भिक्षा

वे ब्रह्मचारी जिस समय, गुरुदेव के आदेश से,
पहुँचे नहीं भिक्षार्थ पुर में, बालरूप महेश-से।
ले सात्त्विकी भिक्षा, प्रथम ही, गृहिणियाँ हर्षित बड़ीं—
करने लगीं उनकी प्रतीक्षा, द्वार पर हो कर खड़ीं॥ १७७ ॥
है आज कल की भाँति वह भिक्षा नहीं अपमान की,
है प्रार्थनीय गृही जनों को यह व्यवस्था दान की।
वे ब्रह्मचारी भिक्षुवर ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं—
भूपाल भी, पथ छोड़ कर, उन पर दिखाते भक्ति हैं १ ॥ १७८॥

* जो दस हज़ार विद्यार्थियों को भोजन और वस्त्र देकर पढ़ाता हो उसे कुलपति कहते हैं।

१—यदि स्नातक ब्रह्मचारी और राजा एक ही मार्ग पर आते हुए एक दूसरे के सम्मुख हो जायँ तो राजा को चाहिए कि स्नातक के लिए मार्ग छोड़ दे। वशिष्ठ।

राजा

देखो, महीपति उस समय के हैं प्रजा-पालक सभी,
रहते हुए उनके किसी को कष्ट हो सकता कभी ?
किस भाँति पावें कर, न यदि वे न्याय से शासन करें १,
जो वे अनीति करें कहीं तो वेन की गति से मरें २॥१७९॥

अनिवार्य्यशिक्षा

हैं खोजने से भी कहीं द्विज मूर्ख मिल सकते नहीं,
अनिवार्य शिक्षा के नियम हैं जो कि हिल सकते नहीं।
यदि गाँव में द्विज एक भी विद्या न विधिपूर्वक पढ़े—
तो दण्ड दे उसको नृपति, फिर क्यों न यों शिक्षा बढ़े ३?॥१८०॥

१—यदि राजा पवित्र राजनियमानुसार शासन करता है तो वह अपनी प्रजा के आय-धन का छठवाँ भाग ले सकता है (अन्यथा नहीं)।

वशिष्ठ ।

२—वेन एक बड़ा अत्याचारी राजा था। उसने अपने राज्य में घोषणा करवा दी थी कि "न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्" अर्थात् मेरे राज्य में कोई द्विज न यज्ञ करे, न दान करे और न ईश्वर का आराधन करे। इस कठोर और अनुचित आदेश को सुन कर तमाम ऋषि और मुनि उसके पास गये और उसे बहुत कुछ समझाया; किन्तु उसने एक भी न सुनी। वह यही कहता रहा कि यज्ञपुरुष कौन है ? जो कुछ हूँ मैं ही हूँ। जब बहुत समझाने पर भी उसने न माना तब वह मार डाला गया।

श्रीमद्भागवत ।

३—राजा उस गाँव को दण्ड दे, जिसमें ब्राह्मण लोग अपने धर्म्म का पालन नहीं करते, वेदों को नहीं जानते और भिक्षा माँग कर रहते हैं; क्योंकि, ऐसा गाँव लुटेरों का पोषण करता है।

वशिष्ठ ।

है नित्य विप्रों के यहाँ बस, ज्ञान-चर्चा दीखती,
शुक-सारिकाएँ भी जहाँ शास्त्रार्थ करना सीखती१ ।
कोई जगत को सत्य, कोई स्वप्न मात्र बता रहा,
कोई शकुनि उनमें वहाँ मध्यस्थ भाव जता रहा ॥१८१॥

चारित्र्य

देखो कि सबके साथ सबका निष्कपट बर्ताव है,
सबमें परस्पर दीख पड़ता प्रेम का सद्भाव है ॥
कैसे फलें-फूलें भला वे जो न हिल मिल कर रहें ?
वे आर्य ही क्या, यदि कभी परिवाद निज मुख से कहें ॥१८२॥

ठग और चोर कहीं नहीं हैं धर्म्म का अति ध्यान है,
देखे न देखे और कोई, देखता भगवान है ।
सूना पड़ा हो माल कोई किन्तु जा सकता नहीं२,
कोई प्रलोभन शान्त मन को है भुला सकता नहीं ॥१८३॥

१—यह पद्य "शङ्करदिग्विजय" के निम्नलिखित श्लोक को लक्ष्य करके लिखा गया है—

जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥

२—सुलतान शाहरुख का एलची अब्दुलरज़्ज़ाक़, जो १४४२ ई० में कालीकट में आया था, अपनी किताब 'मुतालुलसादीन' में लिखता है—

माल हर क़िस्म का, बग़ैर मालिक के, बाज़ारों में खुला पड़ा रहता है, मगर कोई उसे हाथ नहीं लगाता ।

यदि झूठ कहने पर किसी का टिक रहा सर्वस्व भी—
तो भी कहेगा सत्य ही वह क्यों कि मरना है कभी।
पञ्चायतों में, समय पर, दृष्टान्त ऐसे दीखते,
हैं धर्म्म का सत् पाठ मानों गर्भ में ही सीखते१॥१८४॥

हैं भाव सबके आननों पर ईश्वरीय प्रसाद के,
इस लोक में उनके हृदय आधार हैं आह्लाद के।
मरते नहीं वह मौत वे जो फिर उन्हें मरना पड़े,
करते नहीं वह काम उनको नाम जो धरना पड़े॥१८५॥

बस, विश्वपति में नित्य सबकी वृत्तियाँ हैं लग रहीं,
अन्तःकरण में ज्ञान-मणि की ज्योतियाँ हैं जग रहीं।
कर्त्तव्य का ही ध्यान उनको है सदा व्यवहार में,
वे "पद्मपत्रमिवाम्भसा" रहते सुखी संसार में॥१८६॥

१—(क) मैंने किसी हिन्दू को झूठ बोलते नहीं सुना।

एरियन, यूनानी।

(ख) मेगास्थनीज़ को बहुत दिनों तक पटने में रहने पर भी, एक भी ऐसा आदमी न मिला जो कभी झूठ बोला हो।

(ग) गाँव के रहने वाले स्वभावतः पञ्चायतों में दृढ़ता से सत्य का साथ देते हैं। मेरे सामने सैकड़ों ऐसे अभियोग हुए हैं जिनमें मनुष्य की सम्पत्ति, स्वाधीनता और प्राण तक उसके झूठ बोलने पर अवलम्बित रहे हैं, पर उसने झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया।

कर्नल स्लीमेन।

विचार

वह भद्र-भारत सर्वदा भू-लोक-नेता सिद्ध है
संसार में सब से अधिक स्वाधीनचेता सिद्ध है।
उन्मादिनी माया स्वयं उसको भुला पाती नहीं,
पुनरागमन की बन्धता भी है उसे भाती नहीं॥ १८७ ॥

है लक्ष्य केवल मुक्ति ही उसके अतुल उद्देश का,
है दास भी तो वह उसी वैकुण्ठपति विश्वेश का।
साक्षी स्वयं इस बात के उसके वही सु-विचार हैं—
संसार के साहित्य के जो सार हैं, आधार हैं॥ १८८॥

महत्ता

जो पूर्व में हमको अशिक्षित या असभ्य बता रहे,
वे लोग या तो अज्ञ हैं या पक्षपात जता रहे।
यदि हम अशिक्षित थे, कहें तो सभ्य वे कैसे हुए ?
वे आप ऐसे भी नहीं थे आज हम जैसे हुए॥ १८९ ॥

ज्यों ज्यों प्रचुर प्राचीनता की खोज बढ़ती जायगी,
त्यों त्यों हमारी उच्चता पर ओप चढ़ती जायगी।
जिस ओर देखेंगे हमारे चिन्ह दर्शक पायँगे;
हमको गया बतलायँगे, जब जो जहाँ तक जायँगे॥ १९० ॥

पाये हमीं से तो प्रथम सबने अखिल उपदेश हैं,
हमने उजड़ कर भी बसाये दूसरे बहु देश हैं।

यद्यपि महाभारत-समर था मरण भारत के लिये,
यूनान-जैसे देश फिर भी सभ्य हमने कर दिये॥ १९१॥

हमने बिगड़ कर भी बनाए जन्म के बिगड़े हुए;
मरते हुए भी हैं जगाये मृतक-तुल्य पड़े हुए।
गिरते हुए भी दूसरों को हम चढ़ाते ही रहे,
घटते हुए भी दूसरों को हम बढ़ाते ही रहे॥ १९२॥

कल जो हमारी सभ्यता पर थे हँसे अज्ञान से—
वे आज लज्जित हो रहे हैं अधिक अनुसन्धान से।
जो आज प्रेमी हैं हमारे भक्त कल होंगे वही,
जो आज व्यर्थ विरक्त हैं अनुरक्त कल होंगे वही॥ १९३॥

सब देश विद्याप्राप्ति को सन्तत यहाँ आते रहे,
सुरलोक में भी गीत ऐसे देव-गण गाते रहे—
"हैं धन्य भारतवर्ष-वासी, धन्य भारतवर्ष है;
सुरलोक से भी सर्वथा उसका अधिक उत्कर्ष है।[1]"॥ १९४॥

१—गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषासुरत्वात्॥

विष्णुपुराण।

अर्थात् देवता भी ऐसे गीत गाया करते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं जो कि स्वर्ग और अपवर्ग के हेतुभूत भारतवर्ष में जन्म लेते हैं, वे हमसे भी श्रेष्ठ हैं।

अवनति का आरम्भ

इस भाँति जब जग में हमारी पूर्ण उन्नति हो चुकी,
पाया जहाँ तक पथ वहाँ तक प्रगति की गति हो चुकी।
तब और क्या होता ? हमारे चक्र नीचे को फिरे,
जैसे उठे थे, अन्त में हम ठीक वैसे ही गिरे! ॥ १९५ ॥

उत्थान के पीछे पतन सम्भव सदा है सर्वथा,
प्रौढ़त्व के पीछे स्वयं वृद्धत्व होता है यथा ॥
हा! किन्तु अवनति भी हमारी है समुन्नति-सी बड़ी,
जैसी बढ़ी थी पूर्णिमा वैसी अमावास्या पड़ी ! ॥ १९६ ॥

पैदा हुआ अभिमान पहले चित्त में निज शक्ति का,
जिससे रुका वह स्रोत सत्वर शील, श्रद्धा, भक्ति का।
अविनीतता बढ़ने लगी, अनुदारता आने लगी;
पर-बुद्धि जागी, प्रीति भागी, कुमति बल पाने लगी ॥ १९७ ॥

फिर स्वार्थ ईर्ष्या-द्वेष का विष-बीज जो बोने लगा,
दुर्भावना के वारि से उग वह बड़ा होने लगा।
वे फूट के फल अन्त में यों फूल कर फलने लगे—
खाकर जिन्हें, जीते हुए ही, हम यहाँ जलने लगे ॥ १९८ ॥

महाभारत

क्या देर लगती है बिगड़ते, जब बिगड़ने पर हुए ?

आख़िर महाभारत-समर का साज सज ही तो गया,
डङ्का हमारे नाश का बेरोक बज ही तो गया ! ॥१९९॥

हाँ सोचनीय, परन्तु, ऐसा कलह भी होगा नहीं,
तू ही बता हे काल ! ऐसा हाल देखा है कहीं ?
हा ! बन्धुओं के हा करों से बन्धु कितने कट मरे,
यह भव्य भारत अन्त में बन हो गया मरघट हरे ! ॥२००॥

इस सर्वनाशी युद्ध का वह दृश्य कैसा घोर था,
उस ओर था यदि पुत्र तो लड़ता पिता इस ओर था !
सन्तान ही के रक्त में यह मातृभूमि सनी यहाँ,
उस स्वर्ग की-सी वाटिका की हाय ! राख बनी यहाँ ॥२०१॥

अनार्यों का आक्रमण

इस भाँति जब बलहीन होकर देश ऊजड़ हो गया;
फिर वह हुआ जिससे कि अब सर्वस्व अपना खो गया।
घुस कर शकादि अनार्य्य-गण निर्भय यहाँ बढ़ने लगे,
निःशक्त देख, शृगाल घायल सिंह पर चढ़ने लगे ! ॥२०२॥

अवतार

हिंसा बढ़ी ऐसी कि मानव दानवों से बढ़ गये,
भू से न भार सहा गया, अविचार ऊपर चढ़ गये।
सहसा हमारा यह पतन देखा न प्रभु से भी गया,
तब शाक्य मुनि के रूप में प्रकटी दयामय की दया ॥२०३॥

बौद्ध काल

भारत-गगन में उस समय फिर एक वह झण्डा उड़ा—
जिसके तले, आनन्द से, आधा जगत आकर जुड़ा[१] ।
वह बौद्धकालिक सभ्यता है विश्व भर में छा रही,
अब भी जिसे अवलोकने को भूमि खोदी जा रही !॥२०४॥

वर्णन विदेशी यात्रियों ने उस समय का जो दिया,
पढ़कर तथा सुन कर उसे किसने नहीं विस्मय किया ?
बनते न विद्या प्राप्त कर ही वे यहाँ बुधवर्य्य थे—
श्री भी यहाँ की देख कर करते महा आश्चर्य्य थे ॥२०५॥

तब भी कला-कौशल यहाँ का था जगत के हित नया,
है फ़ाहियान विलोक जिसको मुग्ध होकर कह गया—
"यह काम देवों का किया है, मनुज कर सकते नहीं[२]—
दृग देखकर जिसको कभी श्रम मान कर थकते नहीं !"॥२०६॥

१—ईसा की पाँचवीं और दसवीं शताब्दी के बीच समस्त मनुष्य-जाति के आधे से अधिक लोग बौद्ध थे ।

आर. सी. दत्त ।

२—पाँचवीं सदी के आरम्भ में फ़ाहियान नामक एक चीनी यात्री भारत में आया । वह पाटलीपुत्र (पटना) में कोई तीन वर्ष रहा । महाराज अशोक के बनवाये हुए, छः सात सौ वर्ष के टूटे फूटे, राजप्रासाद को देख कर उसे बड़ा दुःख हुआ । इस विषय में उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त में लिखा है कि अशोक ने इस महल को देवताओं से अवश्य बनवाया होगा । इसकी ऊँची ऊँची दीवारें, भव्य द्वार और चौखटें बनाना मनुष्य का काम नहीं ।

अशोक और गुप्तवंश

था सार्वभौम अशोक का कैसा प्रताप बढ़ा चढ़ा,
विस्तार जिसके राज्य का था अन्य देशों तक बढ़ा।
थे गुप्तवंशी नृप, न धर्म्म-द्वेष जिनको इष्ट था;
तात्पर्य्य, तब भी भूमि पर भारत बहुत उत्कृष्ट था ॥२०७॥

जैनमत

प्रकटित हुई थी बुद्ध विभु के चित्त में जो भावना—
पर-रूप में अन्यत्र भी प्रकटी वही प्रस्तावना।
फैला अहिंसा-बुद्धि-वर्द्धक जैन-पन्थ-समाज भी,
जिसके विपुल साहित्य की विस्तीर्णता है आज भी ॥२०८॥

श्रुति-संहिताओं से निकल ध्रुव धर्म-चिन्ता-ह्रादिनी,
हो बौद्ध-जैनमयी त्रिपथगा वह चली कलनादिनी।
शतशः प्रवाहों में उसे अब देखते हैं हम सभी,
फिर एक होकर ब्रह्म-सागर में मिलेगी वह कभी? ॥२०९॥

मतभेद

इस भाँति भारतवर्ष ने गौरव दिखाया फिर नया,
पर हाय! वैदिक-धर्म-रवि था बौद्ध-घन से घिर गया।
जैनादिकों से भी परस्पर भेद बढ़ता ही गया,
उस फूट के फल का प्रबल विष और चढ़ता ही गया! ॥२१०॥

हिन्दूधर्म

ऐसे विरोधी काल में भी जो कि सब विध वाम था—
अक्षुण्ण रहना एक हिन्दू-धर्म्म का ही काम था।
अथवा किसी के मेटने से सत्य मिट सकता कहीं ?
घन घेरलें पर सूर्य्य का अस्तित्व खो सकते नहीं ॥२११॥

हिन्दू

इस काल में भी हिन्दुओं में धीरता कुछ शेष थी,
निज पूर्वजों की वीरता, गम्भीरता कुछ शेष थी।
फैली विशेष विलासिता थी किन्तु थी कुछ भक्ति भी,
हम घट चले थे किन्तु फिर भी शेष थी कुछ शक्ति भी ॥२१२॥

विक्रमादित्य

विक्रम कि जिनका आज भी संवत् यहाँ है चल रहा—
ध्रुव-धर्म्म को ऐसे नृपों का उस समय भी बल रहा।
जिनसे अनेकों देश-हितकर पुण्यकार्य्य किये गये;
जो शक यहाँ शासक बने थे सब निकाल दिये गये ॥२१३॥

नर-रूप-रत्नों से सजी थी वीर विक्रम की सभा,
अब भी जगत में जागती है जगमगी जिनकी प्रभा।
जाकर सुनो, उज्जैन मानों आज भी यह कह रही—
मैं मिट गई, पर कीर्ति मेरी तब मिटेगी जब मही ॥२१४॥

भोज

विद्यानुरागी भोज भी कैसा सदाशय भूप था—
विख्यात कवियों के लिए जो कल्पवृक्ष-स्वरूप था।
साहित्य के उद्यान में वह पुण्यकाल वसन्त है,
वे वे प्रसून खिले कि अब भी सुरभि-पूर्ण दिगन्त है ॥२१५॥

विकास में ह्रास

पर ठीक वैसा ही हमारा यह प्रसिद्ध विकास है—
जैसा कि बुझने के प्रथम बढ़ता प्रदीप-प्रकाश है।
हो बौद्ध लक्ष्य-भ्रष्ट सहसा घोर नास्तिक ही रहे,
सँभले न फिर हम आर्य्य भी, इस भाँति विषयों में बहे! ॥२१६॥

यद्यपि सनातन धर्म्म की ही अन्त में जय जय रही,
भगवान शङ्कर[१] ने भगा दी बौद्ध-भ्रान्ति भयावही।
पर हाय! हम चेते नहीं फँस कर कलह के जाल में,
क्या फूट को जड़ फैलती है फूट कर पाताल में! ॥२१७॥

बढ़ने लगा विग्रह परस्पर, क्रान्तियाँ होने लगीं,
अनुदारता मय स्वार्थ के वश भ्रान्तियाँ होने लगीं।
जिसमें हुआ कुछ बल वही अधिकार पर मरने लगा,
सौभाग्य भय खाकर भगा, दुर्भाग्य जय पाकर जगा ॥२१८॥

बहु तुच्छ रजवाड़े बने, साम्राज्य सब कट छँट गया;
यों भूरि भागों में हमारा दीन भारत बँट गया!

१ स्वामी शङ्कराचार्य्य।

जो एक अनुपम रत्न था परिणत कणों में हो गया,
वह मूल्य और प्रकाश सारा टूटते ही खो गया ॥२१९॥

आचार और विचार तक ही यह विभेद बढ़ा नहीं,
बहु भिन्न भाषाएँ हुईं, फैली विषमता सब कहीं।
आलाप करना भी परस्पर क्लेश हमको हो गया,
निज देश में ही हा विधे! परदेश हमको हो गया ॥२२०॥

मुसलमानों का प्रवेश

देखो न होगी ऐक्य की ऐसी किसी ने छिन्नता,
बढ़ कर महा मत-भिन्नता फैली भयङ्कर खिन्नता।
आखिर अहलॅ इसलाम-दल को हम बुला कर ही रहे,
स्वातन्त्र्य को, मानों सदा को, हम सुला कर ही रहे ॥२२१॥

जयचन्द और पृथ्वीराज

क्या थे यवन, पाते न प्रश्रय यदि अधम जयचन्द से?
जयशील पृथ्वीराज हारे अन्त में छल-छन्द से।
हा! देश का दीपक बुझा, भीषण अँधेरा छा गया;
निज कर्म्म के फल-भोग का वह काल आगे आ गया ॥२२२॥

क्या पा लिया जयचन्द ने निज देश का हित हार के?
हैं कह रहे कन्नौज के वे सौध-धुस्स पुकार के—
"जर्जर हुए भी आज तक हम इस लिए हैं जो रहे—
अब भी सजग हो जायँ वे विद्वेष-विष जो पी रहे" ॥२२३॥

यवनराजत्व

जो हम कभी फूले-फले थे राम-राज्य-वसन्त में,
हा ! देखनी हमको पड़ी औरङ्गजेबी अन्त में !
है कर्म्म का ही दोष अथवा सब समय की बात है,
होता कभी दिन है, कभी होती अँधेरी रात है ॥२२४॥

है विश्व में सबसे बली सर्वान्तकारी काल ही,
होता अहो अपना पराया काल के वश हाल ही।
बनता कुतुबमीनार यमुनास्तम्भ[1] का निर्वाद है,
उस तीर्थराज प्रयाग का बनता इलाहाबाद है ! ॥२२५॥

१—यमुनास्तम्भ अब कुतुबमिनार के नाम से प्रसिद्ध है, इसी नाम के कारण वह हिन्दू लोगों का बनाया होकर भी छिप रहा है। प्रकृत प्रस्ताव में यमुनास्तम्भ पृथ्वीराज का बनवाया हुआ है। कन्या-वत्सल पृथ्वीराज ने अपनी कन्या के प्रतिदिन सन्ध्याकाल में, यमुनादर्शन के निमित्त इसे बनवाया था ! यह बात हम लोगों की कपोलकल्पित नहीं है, आज कल भी दिल्ली के आसपास और प्राचीनकाल के सब लोगों में यही चर्चा प्रचलित है। और मेटकाफ, हिवर इत्यादि अनेक अँगरेज़ और मुसलमान लोगों ने भी इसको प्रमाणित किया है कि यमुनास्तम्भ हिन्दू लोगों का बनवाया हुआ है। यमुनास्तम्भ के बनाने के कौशल के संग मुसल्मान लोगों के खम्भ बनाने के कौशल में अनमेल देख कर बगलार महोदय ने सिद्धान्त किया है कि यमुनास्तम्भ हिन्दुओं का बनाया हुआ है (Journal A. B. Bengal for 1864, Vol. 33) अलीगढ़ के प्रसिद्ध सर सैयद अहमद ख़ाँ ने, कर्नल केनिंगहम को जो इस विषय में एक पत्र लिखा था (Cunningham's Archœological survey

अत्याचार

जो हो, हमारी दुर्दशा का और अन्त नहीं रहा,
हा ! क्या कहें, कितना हमारा रक्त पानी-सा बहा !
हो कर मनुज, कृमि-कीट से भी तुल्य हम लेखे गये;
दृष्टान्त ऐसे बहुत ही कम विश्व में देखे गये ॥२२६॥

रहते यवन थे रक्त-रञ्जित तीक्ष्ण असि ताने खड़े,
चोटी, नहीं तो हाय ! हमको शीश कटवाने पड़े !
जीते हुए दीवार में हम लोग चुनवाये गये,
बल से असंख्यक आर्य्य यों इसलाम में लाये गये !! ॥२२७॥

हा स्वार्थ-वश हमको अनेकों घोर कष्ट दिये गये,
कितने अवश अबला जनों के धर्म्म नष्ट किये गये,
घर में सुता के जन्म से होती बड़ों को थी व्यथा,
कुल-मान रखने को चली थी बालिका-वध की प्रथा ! ॥२२८॥

हा ! निष्ठुरों के हाथ से सुर-मूतियाँ खण्डित हुईं,
बहु मन्दिरों की वस्तुओं से मसजिदें मण्डित हुईं।

of India Vol. IV) उसमें, उन्होंने दिखलाया है कि यमुनास्तम्भ कभी मुसलमान कृत नहीं हो सकता। विशेषतः यमुनास्तम्भ के नीचे की ओर हिन्दुओं के पूजन के घाट इत्यादि जो अङ्कित हैं उनसे वह हिन्दू लोगों का बनाया हुआ प्रमाणित है। यमुनास्तम्भ पहले जितना ऊँचा था अब उतना ऊँचा नहीं है, क्योंकि कुतुबुद्दीन ने उसका शिखर तोड़ कर मुसलमानी ढङ्ग से बनवाया और उसे अपने नाम से प्रसिद्ध किया। (दीपनिर्वाण)

जजिया-सरीखे कर लगे, यह बात सिद्ध हुई सही-
जो प्राप्त हो परतन्त्रता में दुःख थोड़ा है वही ॥ २२९ ॥

प्रशंसा

इससे न यह समझो कि यों ही वह समय बीता सभी,
ऐसा नहीं है, उन दिनों भी था सु-काल कभी कभी ।
निज शत्रु तक के गुण हमें कहना उचित है सब कहीं,
सच को छिपाने के बराबर पाप कोई है नहीं ॥ २३० ॥

ऐसा नहीं होता कि सारी जाति कोई क्रूर हो,
सम्भव नहीं कि समाज भर से ही सदयता दूर हो ।
अतएव ऐसे भी यवन-सम्राट कुछ हैं हो गए-
जातीय-पङ्क-कलङ्क को जो कीर्ति-जल से धो गये ॥ २३१ ॥

अकबर

कम कीर्ति अकबर की नहीं सत्शासकों की ख्याति में,
शासक न उसके सम सभी होंगे किसी भी जाति में ।
हो हिन्दुओं के अर्थ हिन्दू, यवन यवनों के लिये,
हठ, पक्षपात तथा दुराग्रह दूर उसने थे किये ॥ २३२ ॥

निज राज्य में सुख-शान्ति का विस्तार वह करता रहा,
अन्याय, अत्याचार को सब भाँति वह हरता रहा ।
निज शत्रुओं के भी गुणों का मान उसने था किया,
विश्वासपूर्वक हिन्दुओं को सचिव तक का पद दिया ॥ २३३ ॥

भाषा और कवि

उस काल भाषा भी हमारी उच्च पद पाती रही,
हाँ, फ़ारसी-फ़रमान तक पर वह लिखी जाती रही ।

श्रीसूर, तुलसी, देव, केशव कवि विहारी-सम हुए;
जिनके अतुल ग्रन्थाकरों से भाव-रत्नोद्गम हुए ॥ २३४ ॥

औरङ्गज़ेब

यदि पूर्वजों की नीति को औरङ्गज़ेब न भूलता—
होती यवन राजत्व पर विधि की न यों प्रतिकूलता।
गो-वध मिटाने को कहाँ वह पूर्वजों की घोषणा१—
सोचो, कहाँ यह हिन्दुओं के धर्म्म-धन की शोषणा! ॥२३५॥

अन्याय ऐसे, पुरुष होकर, हाय! हम सहते रहे,
करके न कुछ उद्योग विधि की बात ही कहते रहे।
हम चाहते तो एक होकर क्या न कर सकते भला?
पर ऐक्य का तो नाम लेते ही यहाँ घुटता गला!! ॥ २३६ ॥

१—(क) प्रसिद्ध है कि नरहरि कवि के निम्नलिखित पद्य को सुन कर मुग़ल सम्राट् अकबर ने गोकुशी बिल्कुल ही बन्द करा दी थी—

तृण जो दन्ततर धरहिं तिनहिं मारत न सबल कोइ,
हम नित प्रति तृण चरहिं बैन उच्चरहिं दीन होइ।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहि न पिआवहिं,
पय विशुद्ध अति स्रवहिं बच्छ महिथम्भन जावहिं।
सुन शाह अकब्बर! अरज यह, कहत गऊ जोरे करन,
सो कौन चूक मोहिं मारियत, मुए चाम सेवहुँ चरन॥

(ख) अकबर ने जैनाचार्य्य हीरविजय सूरि और जयचन्दसूरि के अनुरोध से साल में कुछ नियत दिनों के लिये जीव हिंसा मात्र बन्द कर देने के फ़रमान जारी कर दिये थे। इस बात का उल्लेख प्रसिद्ध इतिहास लेखक बदाऊनी ने भी किया है और विजय-प्रशस्ति नामक महाकाव्य में भी यह बात लिखी हुई है।

आत्माभिमान

निश्चय यवन राजत्व में ही हम पतित थे हो चुके,
बल और वैभव आदि अपना थे सभी कुछ खो चुके।
पर यह दिखाने को कि भारत पूर्ण में ऐसा न था,
आत्मावलम्बी भी हुए कुछ लोग हममें सर्वथा ॥ २३७ ॥

महाराना प्रतापसिंह

राना प्रताप-समान तब भी शूरवीर यहाँ हुए,
स्वाधीनता के भक्त ऐसे श्रेष्ठ और कहाँ हुए?
सुख मान कर बरसों भयङ्कर सर्व दुःखों को सहा,
पर व्रत न छोड़ा, शाह को बस तुर्क ही मुख से कहा ॥२३८॥

"जौहर"

चित्तौर चम्पक ही रहा यद्यपि यवन अलि हो गये,
धर्म्मार्थ हल्दीघाट में कितने सुभट बलि हो गये!
"कुल-मान जब तक प्राण तब तक, यह नहीं तो वह नहीं,"
मेवाड़ भर में वक्तृताएँ गूँजती ऐसी रहीं!! ॥ २३९ ॥

विख्यात वे जौहर[१] यहाँ के आज भी हैं लोक में,
हम मग्न हैं उन पद्मिनी-सी देवियों के शोक में!
आर्य्य-स्त्रियाँ निज धर्म पर मरती हुईं डरती नहीं,
साद्यन्त सर्व सतीत्व-शिक्षा विश्व में मिलती यहीं!! ॥२४०॥

१—राजपूताने में, सतीत्व धर्म की रक्षा के लिए हज़ारों स्त्रियाँ जीते जी चिताओं में जल गईं। इसको जौहर व्रत कहते हैं।

शिवाजी

फिर भी दिखाई देश में जिसने महाराष्ट्रच्छटा—
दुर्दान्त आलमगीर का भी गर्व जिससे था घटा।
उस छत्रपति शिवराज का है नाम ही लेना अलम्,
है सिंह-परिचय के लिए बस 'सिंह' कह लेना अलम्॥ २४१॥

यवनराजत्व का अन्त

दौरात्म्य यवनों का यहाँ जब बढ़ गया अत्यन्त ही,
सँभले न, उनका भी हुआ बस अन्त में फिर अन्त ही।
था द्वार जो निज नाश का औरङ्गजेब बना गया—
खुल कर पलासी में दिखाया दृश्य ही उसने नया!॥ २४२॥

ब्रिटिश राज्य

अन्यायियों का राज्य भी क्या अचल रह सकता कभी?
आख़िर हुए अँगरेज़ शासक, राज्य है जिनका अभी।
सम्प्रति समुन्नति की सभी हैं प्राप्त सुविधाएँ यहाँ,
सब पथ खुले हैं, भय नहीं विचरो जहाँ चाहो वहाँ॥ २४३॥

अन्याय यवनों का हमें निज दोष से सहना पड़ा,
है किन्तु नारायण अहा! न्यायी तथा सकरुण बड़ा!
देते हुए भी कर्म-फल हम पर हुई उसकी दया,
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया॥ २४४॥

शासन किसी पर-जाति का चाहे विवेक-विशिष्ट हो,
सम्भव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो।
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश-शासन हमें सम्मान्य है,
वह सु-व्यवस्थित है तथा आशा-प्रपूर्ण, वदान्य है॥ २४५॥

सम्प्रति सभी साधन हमें हैं सुलभ आत्मविकास के,
पथ, रेल, तार मिटा रहे हैं सब प्रयास प्रवास के।
प्राय: चिकित्सालय, मदरसे, डाकघर हैं सब कहीं,
बस, पास पैसा चाहिए फिर कुछ असुविधा है नहीं॥ २४६॥

सचमुच ब्रिटिश साम्राज्य ने हमको बहुत कुछ है दिया,
विज्ञान का वैभव दिखाया समय से परिचित किया।
उससे हमारी कीर्ति का भी हो रहा उपकार है,
बहु पूर्व-चिन्हों का हुआ वा हो रहा उद्धार है॥ २४७॥

हमारी दशा

पर हाय! अब भी तो नहीं निद्रा हमारी टूटती,
कैसी कुटेवें हैं कि जो अब भी नहीं हैं छूटती।
बेसुध अभी तक हैं, न जाने कौन ऐसा रस पिया?
देखा बहुत कुछ किन्तु हमने सब बिना देखा किया!॥२४८॥

हैं घट गये सम्प्रति हमारे चरित ऐसे सर्वथा,
कवि-कल्पना-सी जान पड़ती पूर्वजों की वह कथा।
आश्चर्य क्या जो फिर हमें वह युक्ति-युक्त जँचे नहीं,
छोटे दिलों में भी बड़ी बातें समा सकती कहीं॥ २४९॥

गायक मदन शिशु जो कहीं होता पुरातन काल में,
होते कहीं ये भीमकर्मा राममूर्ति न हाल में,
लेते न सम्प्रति जन्म जो वे आधुनिक अर्जुन कई,
इनकी कथा भी कल्पना की दौड़ कहलाती नई१ ॥ २५० ॥

१—(क) अलौकिक शिशु—गायक मास्टर मदन, एमहर्स्ट स्ट्रीट कलकत्ता निवासी बाबू वसन्तकुमार चटर्जी का पुत्र है। इस बालक का पूरा नाम है मदनमोहन चटर्जी। यह बालक २ वर्ष ९ महीने की अवस्था से गाता है। तीन वर्ष दो महीने की अवस्था में सर्वसाधारण के समक्ष मदन का पहला गाना हुआ। ताल-स्वर-संयुक्त गान सुन कर सुनने वाले मुग्ध होगये। तब से बड़े बड़े जलसों में गाने के लिए मदन बुलाया जाता है। बड़े बड़े गवैयों ने मदन के गाने की प्रशंसा की है। गाने के उपलक्ष में मदन को कई तमगे मिले हैं, जिनमें १ चाँदी का और १५ सोने के हैं। इस समय मास्टर मदन की अवस्था कोई सात वर्ष की है। सङ्गीत-विद्या-विशारदों की राय है कि दस दस वर्ष अभ्यास करने वाले गवैयों में जो बात नहीं पैदा हो सकती, वह बात मास्टर मदन में है।

(ख) जगद्विख्यात भीमकर्म्मा प्रोफ़ेसर राममूर्ति नायडू को कौन नहीं जानता? आप मदरास हाते के बिजगापट्टम ज़िले के रहनेवाले हैं। आप चालीस चालीस मन के पत्थर छाती पर रख कर तुड़वा देते हैं। आदमियों से भरी हुई गाड़ियाँ छाती पर से निकलवा देते हैं और बदन में कहीं निशान तक नहीं होता। लोहे की मोटी मोटी जंजीरें आप हाथ से तो तोड़ ही डालते हैं, गरदन में लपेट कर भी तोड़ देते हैं। गरदन तानते ही जंज़ीर कड़कड़ा कर अलग हो जाती है। आप अपनी छाती पर हाथी भी खड़ा कर लेते हैं। सोलह सोलह घोड़ों की ताक़त वाली मोटर रोकते हैं। कभी कभी आप दो दो मोटरें रोक लेते हैं। आपको पचासों पदक मिले हैं। एक पदक स्वयं महाराज पञ्चम जार्ज ने, जो उस साल युवराज की हैसियत से भारत में पधारे थे, दिया था। आप अपने अद्भुत शारीरिक बल के कारण कलियुगी भीम कहलाते हैं।

(ग) हमारे पाठकों में से बहुतों ने, धनुर्विद्याविशारद सव्यसाची राना सुल्तान सिंह जी का नाम सुना होगा। आप क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए हैं। आपका घराना लीमड़ी के राजवंश से सम्बन्ध रखता है। लीमड़ी राज्य की ओर से लीमड़ी के पास ही रङ्गपुर में आपकी जागीर है। आपके पिता का नाम भूपति सिंह जी और काका का नाम केसरी सिंह जी था। आपका जन्म संवत् १९२० में हुआ था। दस वर्ष की उम्र से काका केसरी सिंह जी आपको गोदी में बिठला कर बन्दूक चलाना और निशाना मारना सिखलाते थे। अभ्यास बड़ी चीज़ है। धीरे धीरे आप लक्ष्य-वेध में पारङ्गत होने लगे। अब इस समय आप कोई तीस-पैंतीस प्रकार के प्रयोग करते हैं। जैसे, दीपकाद्यप्रयोग, भयानक-वेध, अदृश्य-वेध, चललक्ष्य-वेध, मत्स्य-वेध, शब्द-वेध इत्यादि। आपने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में बाण-विद्या की जिन अद्भुत करामातों का उल्लेख है, जिन्हें लोग पौराणिक गपोड़ समझते हैं, वे कपोल कल्पित कहानियाँ नहीं, बरन् सब सही हैं। आपके पुत्र का नाम शूर सिंह जी है। हर्ष की बात है कि वे भी इस विद्या में अपने पिता के समान ही प्रवीण हैं।

(घ) राना सुल्तान सिंहजी की तरह एक और भी आधुनिक अर्जुन हैं। आपका नाम है लल्लूभाई कल्याणजी शाह। आप भावनगर (काठियावाड़) के रहने वाले श्वेताम्बरी जैन वैश्य हैं। आपका जन्म संवत् १९२९ में हुआ था। जिन प्रयोगों को राना सुल्तानसिंहजी करते हैं उन्हीं सब प्रयोगों को आप भी करते हैं।

(ङ) अभी बहुत दिन नहीं हुए, दक्षिण में एक निशानेबाज़ था। उसके भाई और लड़के भी अच्छा निशाना लगाते थे। वे आमने सामने बन्दूक भर कर खड़े होते थे और एक ही साथ फ़ायर करते थे। पर दोनों तरफ़ की गोलियाँ बीच ही में परस्पर टकरा कर लड़ जाती थीं और चिपटी होकर दाहने बायें गिर पड़ती थीं। इस प्रयोग में कभी गलती नहीं हुई। यह बात एक मासिक पुस्तक के आधार पर सरस्वती में प्रकाशित हुई थी।

सारे जगत में जब परा-विद्या प्रमुखता पायगी१—
उत्पत्ति भारत में तथा उसकी बताई जायगी।
तब भी कदाचित् मुँह बना कर कह उठेंगे हम यही—
क्यों जी, हमारे पूर्वजों की यह कथा क्या है सही?॥२५१॥

संसार रूप शरीर में जो प्राण रूप प्रसिद्ध था,
सब सिद्धियों में जो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था।
हा हन्त! जीते जी वही अब हो रहा म्रियमाण है,
अब लोक-रूप-मयङ्क में भारत कलङ्क-समान है!॥२५२॥

हा देव! अब वे दिन कहाँ हैं और वे रातें कहाँ?
हैं काल की बातें कि कल की आज हैं बातें कहाँ?
क्या थे तथा अब क्या हुए हम, जानता बस काल है;
भगवान जाने, काल की कैसी निराली चाल है!!!॥२५३॥

---

१ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

मुण्डकोपनिषद्।

अर्थात् परा वह विद्या है जिससे अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है।

श्रीहरिः

वर्तमान खण्ड

प्रवेश

जिस लेखनी ने है लिखा उत्कर्ष भारतवर्ष का,
लिखने चली अब हाल वह उसके अमित अपकर्ष का।
जो कोकिला नन्दन विपिन में प्रेम से गाती रही,
दावाग्नि-दग्धारण्य में रोने चली है अब वही !!!॥ १ ॥

वर्तमान भारत

यद्यपि हताहत गात में कुछ साँस अब भी आ रही,
पर सोच पूर्वापर दशा मुँह से निकलता है यही—
जिसकी अलौकिक कीर्ति से उज्ज्वल हुई सारी मही,
था जो जगत का मुकुट, है क्या हाय ! यह भारत वही॥ २ ॥

भारत, कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो !
हे पुण्यभूमि ! कहाँ गई है वह तुम्हारी श्री कहो ?
अब कमल क्या, जल तक नहीं, सर-मध्य केवल पङ्क है;
वह राजराज कुबेर अब हा ! रङ्क का भी रङ्क है !॥ ३ ॥

प्राचीन चिन्ह

प्राचीनता के चिन्ह भी क्या अब तुम्हारे रह गये ?
खँडहर खड़े हैं कुछ सही, पर आज वे भी हैं नये।
सुनते यही हैं हाय ! हम जा पहुँचते हैं जब वहाँ—
"कोई हमें वे मत कहो, देखो न, अब हम वे कहाँ !" ॥४॥

उन मन्दिरों के ढेर ऊँचे, आद्रि-रूप, उजाड़ हैं;
हा पूर्वजों की बैठकों पर दीखते अब झाड़ हैं।
वे झाड़ मर्मर-मिस पवन में भर रहे ये शब्द हैं—
"जो थे यहाँ उनको हुए बाते अनेकों अब्द[1] हैं" ! ॥५॥

जिन श्रेष्ठ सौधों में सुगायक श्रुति-सुधा थे घोलते,
निशि-मध्य टीलों पर उन्हीं के आज उल्लू बोलते।
"सोते रहो हे हिन्दुओ ! हम मौज करते हैं यहाँ",
प्राचीन चिन्ह विनष्ट यों किस जाति के होंगे कहाँ ?॥६॥

श्रुति, शास्त्र और पुराण का होता जहाँ प्रिय-पाठ था,
सुन्दर, सुखद, शुचि सत्त्व गुण का एक अद्भुत ठाठ था।
जम्बुक अचानक अब वहाँ की शान्ति करते भङ्ग हैं,
आकाश के बहु रङ्ग-जैसे भूमि के भी ढङ्ग हैं ॥७॥

आमोद बरसाती जहाँ थी यज्ञ-धूममयी घटा,
यश-तुल्य जिस आमोद की थी स्वर्ग में छाई छटा।
अब प्लेग-जैसी व्याधियों की है वहाँ फैली हवा,
चलती नहीं जिस पर धुरन्धर डाक्टरों की भी दवा ! ॥८॥

१—वर्ष।

दारिद्र्य

रहता प्रयोजन से प्रचुर पूरित जहाँ धन-धान्य था,
जो 'स्वर्ण-भारत' नाम से संसार में सम्मान्य था !
दारिद्र्य दुर्द्धर अब वहाँ करता निरन्तर नृत्य है,
आजीविका-अवलम्ब बहुधा भृत्य का ही कृत्य है !! ॥ ९ ॥

देखो जिधर अब बस उधर ही है उदासी छा रही,
काली निराशा की निशा सब ओर से है आ रही ।
चिन्ता-तरङ्गें चित्त को बेचैन रखती हैं सदा,
अब नित्य ही आती यहाँ पर एक नूतन आपदा ॥१०॥

दुर्भिक्ष

दुर्भिक्ष मानों देह धर के घूमता सब ओर है,
हा ! अन्न ! हा ! हा ! अन्न का रव गूँजता घनघोर है !
सब विश्व में सौ वर्ष में, रण में मरे जितने हरे !
जन चौगुने उनसे यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे[1] !! ॥११॥

उड़ते प्रभञ्जन से यथा तप-मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं !

१—कुल दुनियाँ की लड़ाइयों में सौ वर्ष के अन्दर (१७९३ से १९०० तक) सिर्फ़ पचास लाख आदमी मारे गये हैं । पर हमारे हिन्दुस्तान में केवल दस वर्ष में (१८९१ से १९०१ तक) अकाल और भूख के मारे एक करोड़ नब्बे लाख मनुष्यों ने प्राण त्याग किये !

हिन्दी ग्रन्थमाला, मई सन् १९०८ पृष्ठ ९ ।

है एक चिथड़ा ही कमर में और खप्पर हाथ में,
नङ्गे तथा रोते हुए बालक विकल हैं साथ में ॥१२॥

आवास या विश्राम उनका एक तरुतल मात्र है,
बहु कष्ट सहने से सदा काला तथा कृश गात्र है !
हेमन्त उनको है कँपाता, तप तपाता है तथा—
है झेलनी पड़ती उन्हें सिर पर विषम वर्षा-व्यथा !॥१३॥

वह पेट उनका पीठ से मिल कर हुआ क्या एक है ?
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है !
निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे;
किन शुष्क आतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे !॥१४॥

अविराम आँखों से बरसता आँसुओं का मेह है,
है लटपटाती चाल उनकी, छटपटाती देह है !
गिर कर कभी उठते यहाँ, उठ कर कभी गिरते वहाँ;
घायल हुए-से घूमते हैं वे अनाथ जहाँ तहाँ ॥१५॥

हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार द्वार पुकारते,
कहते हुए कातर वचन सब ओर हाथ पसारते—
"दाता ! तुम्हारी जय रहे, हमको दया कर दीजियो,
माता ! मरे, हा! हा! हमारी शीघ्र ही सुध लीजियो"॥१६॥

कृमि, कीट, खग, मृग आदि भी भूखे नहीं सोते कभी,
पर वे भिखारी स्वप्न में भी भूख से रोते सभी !
वे सुप्त हैं या मृत कि मूर्च्छित, कुछ समझ पड़ता नहीं;
मूर्च्छा कि मृत्यु अवश्य है, यह नींद की जड़ता नहीं!॥१७॥

है काँखता कोई कहीं, कोई कहीं रोता पड़ा;
कोई विलाप-प्रलाप करता, ताप है कैसा कड़ा।
हैं मृत्यु-रमणी पर प्रणयि-सम वे अभागे मर रहे,
जब से बुभुक्षा कुट्टनी ने उस प्रिया के गुण कहे! ॥१८॥

नारी-जनों की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने को अहो! जो वस्त्र भी पाती नहीं।
जननी पड़ी है और शिशु उसके हृदय पर मुख धरे,
देखा गया है, किन्तु वे माँ-पुत्र दोनों हैं मरे! ॥१९॥

जो कुलवती हैं भीख भी वे माँग सकती हैं नहीं,
मर जायँ चाहे किन्तु झोली टाँग सकती हैं नहीं।
सन्तान ने आकर कहा—'माँ! रात तो होने लगी,
भूखे रहा जाता नहीं माँ!' हाय! माँ रोने लगी ॥२०॥

है खोलती सरकार यद्यपि काम शीघ्र अकाल के,
होती सभाएँ, और खुलते सत्र आटे-दाल के।
पूरा नहीं पड़ता तदपि, वह त्राहि कम होती नहीं;
कैसी विषमता है कि कुछ भी हाय! सम होती नहीं ॥२१॥

प्रायः सदा दुर्भिक्ष ऐसा है बना रहता जहाँ,
आश्चर्य क्या यदि फिर निरन्तर नीचता फैले वहाँ।

करता नहीं क्या पाप भूखा ? पेट ! हो तेरा बुरा,
है ! छोड़ती सुत तक नहीं उरगी क्षुधा से आतुरा ! ॥२२॥

शासक यहाँ जो दोषियों को साँकलों से कस रहे,
जो अण्डमान समान टापू हैं यहाँ से बस रहे ।
फिर भी दिनोंदिन बढ़ रहा जो घोर घटना-जाल है,
है हेतु इसका और क्या, दुर्भिक्ष या दुष्काल है ॥२३॥

"कुल, जाति-पाँति न चाहिए, यह सब रहे या जाय रे;
बस एक मुट्ठी अन्न हमको चाहिए अब हाय रे !
इस पेट पापी के लिए ही हम विधर्मी बन रहे,
निज धर्म्म-मानस से निकल अघ-पङ्क में हैं सन रहे ॥२४॥

जिन दूर देशों में* हमारे धर्म्म के झण्डे उड़े—
आकर स्वयं जिनके तले दिन दिन वहाँ के जन जुड़े ।
तजना पड़े हमको वहीं के धर्म्म पर निज धर्म्म को !
हा ! देखती है क्या बुभुक्षा-राक्षसी दुष्कर्म्म को ! ॥२५॥

हे धर्म्म और स्वदेश ! तुमको बार बार प्रणाम है,
हा ! हम अभागों का हुआ क्या आज यह परिणाम है !
हमको क्षमा करियो, क्षुधा-वश हम तुम्हें हैं खो रहे,
होकर विधर्म्मी हाय ! अब हम हैं विदेशी हो रहे" ॥२६॥

*जैसे अमेरिका में ।

आनन्द-नद में मग्न थे जिस देश के वासी सभी,
सुर भी तरसते थे जहाँ पर जन्म लेने को कभी१ ।
हा ! आज उसकी यह दशा, सन्ताप छाया सब कहीं,
सुर क्या, असुर भी अब यहाँ का जन्म चाहेंगे नहीं ॥ २७ ॥

कृषि और कृषक

अब पूर्व की-सी अन्न की होती नहीं उत्पत्ति है,
पर क्या इसीसे अब हमारी घट रही सम्पत्ति है ?
यदि अन्य देशों को यहाँ से अन्न जाना बन्द हो-
तो देश फिर सम्पन्न हो, क्रन्दन रुके, आनन्द हो ॥ २८ ॥

वह उर्वरापन भूमि का कम हो गया है, क्यों न हो ?
होता नहीं कुछ यत्न उसका, यत्न कैसे हो, कहो ?
करते नहीं कर्षक परिश्रम, और वे कैसे करें ?
कर-वृद्धि है जब साथ तब क्यों वे वृथा श्रम कर मरें ? ॥२९॥

सौ में पचासी जन यहाँ निर्वाह कृषि पर कर रहे,
पाकर करोड़ों अर्द्ध भोजन सर्द आहें भर रहे ।
जब पेट को ही पड़ रही फिर और की क्या बात है;
'होती नहीं है भक्ति भूखे' उक्ति यह विख्यात है ॥ ३० ॥

१—एतदेवहि देवा गायन्ति—
अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥
श्रीमद्भागवत ।

कृषि-कर्म की उत्कर्षता सर्वत्र विश्रुत है सही,
पर देख अपने कर्षकों को चित्त में आता यही—
हा दैव ! क्या जीते हुए आजन्म मरना था उन्हें ?
भिक्षुक बनाते पर विधे ! कर्षक न करना था उन्हें ॥ ३१ ॥

कृषि में अपेक्षा वृष्टि की रहती हमें अब है सदा,
होता जहाँ वैषम्य उसमें क्या कहें फिर आपदा।
रहता अवर्षण से अहो ! अब जो हमारा हाल है,
दृष्टान्त उसका इन दिनों[1] गुजरात का दुष्काल है ॥ ३२ ॥

था एक ऐसा भी समय पड़ता अकाल न था यहाँ[2],
हो या न हो वर्षा जलाशय थे यथेष्ट जहाँ तहाँ।
भारत पढ़ो[3], देवर्षि ने है क्या युधिष्ठिर से कहा—
"कृषि-कार्य्य वर्षा की अपेक्षा के विना तो हो रहा ? ॥ ३३ ॥

१—सन् १९१२ ई०।

२—एक यूनानी राजदूत ने जो कि चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था, आश्चर्य और प्रशंसा के साथ लिखा है कि देश के अधिक भाग में सिंचाई का प्रबन्ध होने के कारण इस देश में अकाल पड़ता ही न था। और बोई हुई भूमि के पास ही युद्ध और लड़ाइयाँ होती थीं परन्तु युद्ध करने वालों में से कोई भी किसान वा उसकी खेती को कुछ हानि नहीं पहुँचाता था। चन्द्रगुप्त के हिन्दू राज्य का बल और विस्तार, उसके राज्य में जान और माल की रक्षा और उस प्राचीन समय में खेती और सिंचाई के प्रबन्ध की उत्तम दशाओं का वर्णन ऐसा है जिसे आज कल का प्रत्येक हिन्दू उचित अभिमान के साथ स्मरण करेगा।

आर. सी. दत्त।

३—सभापर्व।

केवल अवर्षण ही नहीं, अति वृष्टि का भी कष्ट है;
बढ़ कर प्रलय-सम प्रबल जल सर्वस्व करता नष्ट है !
"दैवोऽपि दुर्बलघातक:" अथवा अभाग्य कहें इसे ?
किंवा कहो, निज कर्म्म का मिलता नहीं है फल किसे ? ॥३४॥

अब ऋतु-विपर्यय तो यहाँ आवास ही-सा है किये,
होती प्रकृति में भी विकृति हा ! भाग्यहीनों के लिए।
हेमन्त में बहुधा घनों से पूर्ण रहता व्योम है,
पावस-निशाओं में तथा हँसता शरद का सोम है! ॥ ३५ ॥

हो जाय अच्छी भी फ़सल पर लाभ कृषकों को कहाँ ?
खाते[1], खवाई, बीज-ऋण से हैं रँगे रक्खे यहाँ।
आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अन्त में,
अधपेट रह कर फिर उन्हें है काँपना हेमन्त में ! ॥ ३६ ॥

पानी बना कर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ,
फिर भी अभागे भूख से दिन रात मरते हैं यहाँ।
सब बेचना पड़ता उन्हें निज अन्न वह निरुपाय है,
बस चार पैसे से अधिक पड़ती न दैनिक आय[2] है ! ॥ ३७ ॥

१—बही खाते।

२—सरकारी रिपोर्टों से मालूम होता है कि प्रत्येक किसान की दैनिक आय तीन पैसे से कुछ ही अधिक होती है। परन्तु यदि प्रत्येक किसान की दैनिक आय चार पैसे भी मान ली जाय तो क्या होता है ?

जब अन्य देशों के कृषक सम्पत्ति में भरपूर हैं—
लाते कि जिनसे आठ रुपया रोज़ के मज़दूर हैं।
तब चार पैसे रोज़ ही पाते यहाँ कर्षक अहो !
कैसे चले संसार उनका, किस तरह निर्वाह हो ? ॥ ३८ ॥

बीता नहीं वह काल उस औरङ्गजेबी को अभी —
करके स्मरण जिसका कि हिन्दू काँप उठते हैं सभी।
उस दुःसमय का चावलों का आठ मन का भाव[1] है,
पर आठ सेर नहीं रहा अब, क्या अपूर्व अभाव है ! ॥ ३९

होती नहीं है कृषि यहाँ पूरी तरह से अब कभी,
यद्यपि शुभाशा चित्त में होती हमें है जब कभी।
पाला कहीं, ओले कहीं, लगता कहीं कुछ रोग है,
पहले शुभाशा, फिर निराशा, दैव ! कैसा योग है ? ॥४०॥

बरसा रहा है रवि अनल, भूतल तवा-सा जल रहा,
है चल रहा सनसन पवन, तन से पसीना ढल रहा !
देखो, कृषक शोणित सुखा कर हल तथापि चला रहे,
किस लोभ से इस आँच में वे निज शरीर जला रहे !॥४१॥

मध्याह्न है, उनकी स्त्रियाँ ले रोटियाँ पहुँची वहीं,
हैं रोटियाँ रूखी, खबर है शाक की हमको नहीं !
सन्तोष से खाकर उन्हें वे, काम में फिर लग गये,
भर पेट भोजन पा गये तो भाग्य मानों जग गये ! ॥ ४२ ॥

१—औरंगज़ेब के ज़माने में, बङ्गाल में, जब कि उसका सूबेदार शाइस्ताखाँ था, एक रुपये के आठ मन चावल बिकते थे।

उन कृषक-वधुओं की दशा पर नित्य रोती है दया,
हिम, ताप, वृष्टि-सहिष्णु जिनका रङ्ग काला पड़ गया !
नारी-सुलभ सुकुमारता उनमें नहीं है नाम को,
वे कर्कशाङ्गी क्यों न हों, देखो न उनके काम को !! ।।४३।।

गोबर उठातीं, थापती हैं, भोगतीं आयास वे,
कृषि काटतीं, लेतीं परोहे, खोदती हैं घास वे !
गृह-कार्य्य जितने और हैं करतीं वही सम्पन्न हैं,
तो भी कदाचित् ही कभी भर पेट पातीं अन्न हैं ! ।।४४।।

कुछ रात रहते जाग कर चक्की चलाने बैठतीं,
हम सच कहेंगे, उस समय वे गीत गाने बैठतीं !
पर क्या कहें, उस गीत से क्या लाभ पाने बैठतीं,
वे सुख बुलाने बैठतीं, या दुख भुलाने बैठतीं !! ।।४५।।

घनघोर वर्षा हो रही है, गगन गर्जन कर रहा,
घर से निकलने को कड़क कर वज्र वर्जन कर रहा !
तो भी कृषक मैदान में करते निरन्तर काम हैं,
किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं ?।।४६।।

बाहर निकलना मौत है, आधी अँधेरी रात है,
आः शीत कैसा पड़ रहा है, थरथराता गात है !
तो भी कृषक ईंधन जलाकर खेत पर हैं जागते,
वह लाभ कैसा है न जिसका लोभ अब भी त्यागते ! ।।४७।।

यह अन्न तो लेंगे विदेशी, लाभ क्या उनको कहो ?
मिलता उन्हें जो अर्द्ध भोजन विघ्न उसमें भी न हो !
कहते इसीसे हैं कि क्या आजन्म मरना था उन्हें !
भिक्षुक बनाते पर विधे ! कर्षक न करना था उन्हें ! ॥४८॥

हैं वे असभ्य तथा अशिक्षित, भाव उनके भ्रष्ट हैं;
दुख-भार से सुविचार मानों हो गये सब नष्ट हैं !
अपनी समुन्नति के उन्हें कुछ भी उपाय न सूझते,
अपना हिताहित भी न कुछ वे हैं समझते बूझते !!॥४९॥

सज्ज्ञान कैसे हो, उन्हें संयोग ही मिलता नहीं,
विख्यात कमलालय कमल भी दिन बिना खिलता नहीं !
है पेट से ही पेट की पड़ती उन्हें, वे क्या करें !
वे ग्वाल हो जाते रहें या छात्र बन भूखों मरें ? ॥५०॥

सम्प्रति कहाँ क्या हो रहा है, कुछ न उनको ज्ञान है,
है वायु कैसा चल रहा, इसका न कुछ भी ध्यान है !
मानों भुवन से भिन्न उनका दूसरा ही लोक है,
शशि-सूर्य्य हैं, फिर भी कहीं उसमें नहीं आलोक है ! ॥५१॥

भर पेट भोजन ही चरम सुख वे अकिञ्चन मानते,
पर साथ ही दुर्भाग्य-वश दुर्लभ उसे हैं जानते !
दिन दुःख के हैं भर रहे करते हुए सन्तोष वे,
लाचार हैं, निज भाग्य को ही दे रहे हैं दोष वे ॥५२॥

उनको निरन्तर दुःख ने अत्र कर दिया यों दीन है—
सुख-कल्पना तक से हुआ उनका हृदय अब हीन है !
आलोक का अनुभव कभी जन्मान्ध कर सकते नहीं,
मरु-जन्तु सहसा सुरसरी का ध्यान धर सकते नहीं ॥ ५३ ॥

ग्रामीण गीत यदा कदा वे गान करते हैं सही,
है फाग उनका राग बहुधा और उत्सव भी वही ।
पर चित्त को वे दीन जन किस भाँति बहलाया करें ?
क्या आँसुओं से ही उसे वे नित्य नहलाया करें ? ॥ ५४ ॥

तुम सभ्य हो, 'मार्केट' जिनका सात सागर पार है,
पर ग्राम की वह हाट ही उनका बड़ा 'बड़ा बाज़ार' है ।
तुम हो विदेशों से मँगाते माल लाखों का यहाँ,
पर वे अकिञ्चन नमक-गुड़ ही मोल लेते हैं वहाँ ॥ ५५ ॥

करते सहर्ष प्रदर्शिनी की सैर तुम कौतुक भरी,
(क्या लाभ उससे हो उठाते, बात है, यह दूसरी ।)
वे हो सका तो ग्राम्य-मेले देख कर ही धन्य हैं,
मनिहार की दूकान से जिनमें सुदृश्य न अन्य हैं ॥ ५६ ॥

तुम दार्शनिक हो, ईश का अस्तित्व सत्य न मानते;
हैं भूत-प्रेतों से अधिक वे भी न उसको जानते ।
हा दैव ! इस ऋषि-भूमि का यह आज कैसा हाल है !
तू काल ! सचमुच काल ही है, क्रूर और कराल है ॥ ५७ ॥

पाठक ! न यह कह बैठना, छेड़ा कहाँ का राग है,
यह फूल कैसा है कि इसमें गन्ध है, न पराग है ?
है यह कथा नीरस तदपि इसमें हमारा भाग है,
निकले बिना बाहर नहीं रहती हृदय की आग है ॥ ५८

गो-वध

है कृषि-प्रधान प्रसिद्ध भारत और कृषि की यह दशा !
होकर रसा* यह नीरसा अब हो गई है कर्कशा।
अच्छी उपज होती नहीं है, भूमि बहु परती पड़ी;
गो-वंश का वध ही यहाँ है याद आता हर घड़ी ! ॥ ५९ ॥

यूरोप में कल के हलों से काम होता है सही,
जुत क्यों न जाती हो अरब में ऊँट के हल से मही।
गो-वंश पर ही किन्तु है यह देश अवलम्बित सदा,
पर दीन भारत ! हाय तेरे भाग्य में है क्या बदा ! ॥ ६० ॥

है भूमि वन्ध्या हो रही, वृष-जाति दिन दिन घट रही;
घी-दूध दुर्लभ हो रहा, बल-वीर्य की जड़ कट रही।
गो-वंश के उपकार की सब ओर आज पुकार है;
तो भी यहाँ उसका निरन्तर हो रहा संहार है ! ॥ ६१ ॥

*रसा = पृथ्वी ।

वह भी समय था एक जो अब स्वप्न जा सकता कहा,
घी तीस सेर१ विशुद्ध रुपये में हमें मिलता रहा।
देहात में भी सेर भर से अब अधिक मिलता नहीं!
दुर्बल हुए हम आज यों—तनुभार भी झिलता नहीं!! ॥६२॥

दाँतों तले तृण दाब कर हैं दीन गायें कह रहीं—
"हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही?
हमने तुम्हें माँ की तरह है दूध पीने को दिया,
देकर क़साई को हमें तुमने हमारा वध किया!॥ ६३॥

"जो जन हमारे मांस से निज देह-पुष्टि विचार के—
उदरस्थ हमको कर रहे हैं, क्रूरता से मार के।
मालूम होता है सदा, धारे रहेंगे देह वे—
या साथ ही ले जायँगे उसको बिना सन्देह वे!॥ ६४॥

"हा! दूध पीकर भी हमारा पुष्ट होते हो नहीं,
दधि, घृत तथा तक्रादि से भी तुष्ट होते हो नहीं।
तुम ख़ून पीना चाहते हो, तो यथेष्ट वही सही;
नर-योनि हो, तुम धन्य हो, तुम जो करो थोड़ा वही!॥६५॥

१—अलाउद्दीन खिलजी का हाल लिखते हुए राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द कहते हैं—

"तवारीख़ फ़रिश्ता में लिखा है कि उस वक़्त दिल्ली में अबके हिसाब से एक रुपये का दो मन गेहूँ बिकता था और पौने चार मन जव, ढ़ सात सेर की मिसरी थी और तीस सेर का घी।"

इतिहास तिमिरनाशक, पहला खण्ड पृ० २८।

"क्या वश हमारा है भला, हम दीन हैं, बलहीन हैं;
मारो कि पालो, कुछ करो तुम, हम सदैव अधीन हैं।
प्रभु के यहाँ से भी कदाचित् आज हम असहाय हैं,
इससे अधिक अब क्या कहें, हा! हम तुम्हारी गाय हैं ॥६६॥

"बच्चे हमारे भूख से रहते समक्ष अधीर हैं,
करके न उनका सोच कुछ देती तुम्हें हम चीर हैं।
चर कर विपिन में घास फिर आती तुम्हारे पास हैं,
होकर बड़े वे वत्स भी बनते तुम्हारे दास हैं ॥ ६७ ॥

"जारी रहा क्रम यदि यहाँ यों ही हमारे नाश का—
तो अस्त समझो सूर्य्य भारत-भाग्य के आकाश का।
जो तनिक हरयाली रही वह भी न रहने पायगी,
यह स्वर्ण-भारत-भूमि बस मरघट-मही बन जायगी! ॥६८॥

"बहुधा हमारे हेतु ही विग्रह यहाँ होता खड़ा;
सहवासियों में वैर का जो बीज बोता है बड़ा।
जो हे मुसलमानो! हमें कुर्बान करना धर्म्म है—
तो देश की यों हानि करना क्या नहीं दुष्कर्म्म है? ॥६९॥

"बीती अनेक शताब्दियाँ जिस देश में रहते तुम्हें,
क्या लाज आवेगी उसे अपना 'वतन' कहते तुम्हें?
तुम लोग भारत को कभी समझो अरब से कम नहीं,
यद्यपि जगत में और कोई देश इसके सम नहीं ॥७०॥

"जिस देश के वर-वायु से सकुटुम्ब तुम हो जी रहे,
मिष्टान्न जिसका खा रहे, पीयूष-सा जल पी रहे।

जो अन्त में तनु को तुम्हारे ठौर देगा गोद में,
कर्तव्य क्या तुमको नहीं रखना उसे आमोद में ?॥७१॥

"जिसमें बुजुर्गों के तुम्हारे हैं शरीर मिले हुए,
जिसने उगाये हैं वहाँ छायार्थ वृक्ष खिले हुए।
क्या मान्य "मग़रिब" की तरह तुमको न होगी वह धरा ?
अजमेर की दरगाह का कर ध्यान सोचो तो ज़रा ॥७२॥

"हिन्दू हमें जब पालते हैं धर्म्म अपना मान के,
रक्षा करो तब तुम हमारी देश-हित ही जान के।
यदि तुम कहो—अब हम कलों से काम ले लेंगे सभी,
तो पूछती हैं हम कि क्या वे दूध भी देंगी कभी ? ॥७३॥

"हिन्दू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ,
जो एक का होगा अहित तो दूसरे का हित कहाँ ?
सप्रेम हिल मिल कर चलो, यात्रा सुखद होगी तभी;
पीछे हुआ सो हो गया, अब सामने देखो सभी"॥७४॥

हा ! शोचनीय किसे नहीं गो-वंश का यह ह्रास है ?
इस पाप से ही बढ़ रहा क्या यह हमारा त्रास है !
घृत और दुग्धाभाव से दुर्बल हुए हम रो रहे,
होकर अशक्त, अकाल में ही काल-कवलित हो रहे ॥७५॥

जो नित्य नूतन व्याधियाँ करती यहाँ आखेट हैं,
क्या दीन-दुर्बल ही अधिक होते न उनकी भेट हैं ?
'दैवोऽपि दुर्बलघातक:' फिर याद आता है यहाँ,
'छिद्रेष्वनर्था' वाक्य पर भी ध्यान जाता है यहाँ ॥७६॥

व्याधियाँ

बेमौत अपने आप यों ही हम अभागे मर रहे,
हा ! प्लेग-जैसे रोग तिस पर हैं चढ़ाई कर रहे ।
उच्छिन्न होकर अर्द्ध मृत-सा छटपटाता देश है,
सब ओर क्रन्दन हो रहा है, क्लेश को भी क्लेश है ॥७७॥

गौराङ्गगण भी तो अहो ! थोड़े यहाँ रहते नहीं,
आश्चर्य किन्तु नहीं कि वे दुखदाह से दहते नहीं ।
वे स्वस्थ क्यों न रहें, उन्हें कब और कौन अभाव है ?
बस, दुःख में ही दुःख होता, घाव में ही घाव है ॥७८॥

भारत न ऐसा है कि अब वह और भी दुख सह सके,
इसकी बुरी गति भारती ही कह सके तो कह सके ।
कृश हो गया सहसा सरोवर, छटपटाते मीन हैं,
तप-तप्त तरुवर शुष्क हैं, द्विज दीन हैं गति हीन हैं ॥७९॥

व्यापार

इस रत्नगर्भा भूमि पर हा दैव ऐसी दीनता,
है शोच्य कृषि से कम नहीं व्यापार की भी हीनता ।
जिस देश के वाणिज्य की सर्वत्र धूम मची रही—
क्या पर-मुखापेक्षी नहीं है आज पद पद पर वही ? ॥ ८० ॥

अब रख नहीं सकते स्वयं हम लाज भी अपनी अहो !
रखते विदेशी वस्त्र उसको, सभ्य हैं हम, क्यों न हो !

करती अपेक्षा आप अपनी पूर्ण जो जितनी जहाँ—
वह जाति उतनी ही समुन्नति प्राप्त करती है वहाँ ॥ ८१ ॥

जो वस्तु देखो, "मेडइन" इँगलैंड, इटली, जर्मनी,
जापान, फ्रांस, अमेरिका वा अन्य देशों की बनी।
होकर सजीव मनुष्य हम निर्जीव-से हैं हो रहे,
घर में लगा कर आग अपने बेखबर हैं सो रहे! ॥ ८२ ॥

कुल-नारियाँ जिनको हमारी हैं करों में धारतीं—
सौभाग्य का शुभ-चिन्ह जिनको हैं सदैव विचारतीं।
वे चूड़ियाँ तक हैं विदेशी देखलो, बस हो चुका;
भारत स्वकीय सुहाग भी परकीय करके खो चुका! ॥ ८३ ॥

वे तुच्छ सुइयाँ भी विदेशी जो न हमको मिल सकें—
तो फिर पहनने के हमारे वस्त्र भी क्या सिल सकें?
माचिस विदेशी जो न लें तो हम अँधेरे में रहें,
हैं क्षुद्र छड़ियाँ तक विदेशी और आगे क्या कहें? ॥ ८४ ॥

केवल विदेशी वस्तु ही क्यों, अब स्वदेशी है कहाँ?
वह वेष-भूषा और भाषा, सब विदेशी है यहाँ!
गुण मात्र छोड़ विदेशियों के हम उन्हीं में सन गये,
कैसी नकल की, वाह! हम नक़्क़ाल पूरे बन गये! ॥ ८५ ॥

गर्दभ बना था सिंह उसकी खाल को पाकर कभी,
पर सिंह के-से गुण कहाँ? हँसने लगे उसको सभी।
इस भाँति के नरपुङ्गवों की क्या यहाँ बढ़ती नहीं?
पर हाय! काले भाल पर लाली कभी चढ़ती नहीं ॥ ८६ ॥

सम्प्रति स्वदेशी की हमें है गन्ध भी भाती नहीं,
खस, केवड़ा, बेला, चमेली चित्त में आती नहीं।
मस्तक न 'लेवेंडर' विना अब मस्त होता है अहो!
बस शौक़ पूरा हो हमारा, देश ऊजड़ क्यों न हो! ॥ ८७ ॥

सब स्वाभिमान डुबा चुके जो पूर्व-पारावार में—
आश्चर्य है, हम आज भी हैं जो रहे संसार में!
किंवा इसे जीना कहें तो फिर कहें मरना किसे?
जीता कहाँ है वह नहीं है ध्यान कुछ अपना जिसे! ॥ ८८ ॥

आती विदेशों से यहाँ सब वस्तुएँ व्यवहार की,
धन-धान्य जाता है यहाँ से, यह दशा व्यापार की!
कैसे न फैले दीनता, कैसे न हम भूखों मरें?
ऐसी दशा में देश की भगवान ही रक्षा करें ॥ ८९ ॥

जिस वस्तु को हम दूसरों को बेचते हैं 'एक' में,
लेते उसी को 'बीस' में हैं डूब कर अविवेक में!
जो देश कच्चा माल ही उत्पन्न करके शान्त है,
उसका पतन एकान्त है, सिद्धान्त यह निर्भ्रान्त है ॥ ९० ॥

रालीब्रदर इत्यादि को हम बेचते जो माल हैं,
लेते वही पन्द्रह गुने तक मूल्य में तत्काल हैं!
आता विलायत से यहाँ वह माल नाना रूप में,
आश्चर्य क्या फिर हम पड़े हैं जो अँधेरे कूप में॥ ९१ ॥

हम दूसरों को पाँच सौ की बेचते हैं जब रुई,
सानन्द कहते हैं कि हमको आय क्या अच्छी हुई।
पर दूसरे कहते कि ठहरो, वस्त्र जब हम लायँगे—
तब और पैंतालीस सौ लेकर तुम्हीं से जायँगे॥ ९२॥

हा! आप आगे दौड़ कर हम हीनता को ले रहे,
लेकर खिलौने, काँच आदिक अन्न-धन हैं दे रहे!
आवश्यकीय पदार्थ अपने यदि बनाते हम यहीं,
तो हानि होकर यों हमारी दुर्दशा होती नहीं॥ ९३॥

लेकर विदेशी टीन हम सानन्द चाँदी दे रहे,
देकर तथा सोना निरन्तर हैं गिलट हम ले रहे।
हम काँच लेकर दूसरों को दे रहे हीरे खरे,
निज रक्त के बदले मदादिक ले रहे हैं हा हरे! ॥ ९४॥

क्या इस पुरातन देश में था समय ऐसा भी कभी—
अपनी प्रयोजन-पूर्ति जब करते स्वयं थे हम सभी?
हाँ, यह न होता तो कभी का नाश हो जाता यहाँ,
इसका अभी तक चिन्ह भी क्या दृष्टि में आता यहाँ॥ ९५॥

जो दिव्य दर्शन शास्त्र की विख्यात है जन्मस्थली,
पहले जहाँ पर अंकुरित हो सभ्यता फूली-फली।
सङ्गीत, कविता, शिल्प की जननी वही भारत मही,
होगी किसे स्पर्धा कहे जो पर-मुखापेक्षी रही? ॥ ९६॥

इतिहास में इस देश को वाणिज्य-वृद्धि प्रसिद्ध है,
अन्यान्य देशों से वहाँ सम्बन्ध इसका सिद्ध१ है।
बन कर यहाँ वर वस्तुएँ सर्वत्र ही जाती रहीं,
नर-रचित कहलाती न थीं, सुर-रचित२ कहलाती रहीं ॥९७॥

१—(क) इतिहासों से पता लगता है कि हज़ार वर्ष पूर्व इस देश का मिश्र के साथ वाणिज्य-सम्बन्ध था। इसी प्रकार प्रायः पाँच हज़ार वर्ष पहले इस देश का बेबिलोनियाँ के साथ भी वाणिज्य-सम्बन्ध था।

भारतवर्ष का इतिहास।

(ख) प्राचीन समय में इस देश का व्यापार बहुत अच्छी दशा में था। यूरोप के कवियों, लेखकों और प्रवासियों ने इस देश की कारीगरी की, कला-कुशलता और वैभव की बहुत प्रशंसा की है। उस समय इस देश की वस्तुएँ दुनियाँ के सब भागों में भेजी जाती थीं; और वह अन्य देशों की वस्तुओं से अधिक पसन्द की जाती थीं। अकेले बङ्गाल-प्रान्त से १५ करोड़ का महीन कपड़ा, हर साल विदेशों को भेजा जाता था। पटना में ३३०४२६ स्त्रियाँ, शाहाबाद में १५९५०० और गोरखपुर में १७५६०० स्त्रियाँ चरखों पर सूत कात कर ३५ लाख रुपये कमाती थीं। इसी प्रकार दीनाजपुर की स्त्रियाँ ९ लाख और पूर्नियाँ ज़िले की स्त्रियाँ १० लाख रुपये का सूत कातने का काम करती थीं। सन् १७५७ ई० में जब लार्ड क्लाइव मुरशिदाबाद को गया था तब उसके सम्बन्ध में उसने यह लिखा था कि "यह शहर लन्दन के समान विस्तृत, आबाद और धनी है; इस शहर के लोग लन्दन से भी बढ़कर मालदार हैं।"

निबन्ध-संग्रह पृष्ठ ७०।

२—डेन्ज साहब ने लिखा है कि ढाके का बना हुआ कपड़ा देखने से मालूम होता है, जैसे देवताओं ने बनाया हो। उसे देख कर यह नहीं मालूम होता कि वह मनुष्य का बनाया हुआ है।

हिन्दू-कला-कौशल्य पर संसार मुग्ध बना रहा,
जग में विना सङ्कोच सबने अद्वितीय उसे कहा।
'हारूँ रशीद' तथा प्रतापी 'शार्लमेंगन' की सभा,
है हो चुकी विस्मित निरख कर भारतीय-पट-प्रभा[1] ॥ ९८॥

सब वस्तुएँ उपहार के ही योग्य बनती थीं यहाँ,
संसार में होती उन्हीं की माँग थी देखो जहाँ।
तब तो अतुल वैभव रहा, त्रुटि थी न कोई आय में;
सच है कि रमती है रमा वाणिज्य में, व्यवसाय में ॥ ९९ ॥

हैं आज कश्मीरे विदेशी नाम पर जिनके चले,
बनते दुशाले हाय! थे काश्मीर में कैसे भले!
है विदित बङ्गाली किनारी धोतियोंकी आज भी,
पर है विदेशी आज वह, आती न हमको लाज भी[2]! ॥ १००॥

१—प्राचीन समय में, यहाँ के शिल्पकारों की वस्तुएँ, संसार में सब कहीं बिकती थीं। उनकी कारीगरी की बग़दाद में हारूँरशीद के दरबार में क़द्र होती थी। और उन्होंने प्रतापी शार्लमेंगन और उसके दरबारियों को आश्चर्य-चकित किया था। एक अँग्रेज़ कवि लिखता है कि वे लोग अपनी आँखें फाड़ फाड़ कर, बड़े आश्चर्य से, रेशमी और कारचोबी के वस्त्रों तथा रत्नों को देखते थे, जो कि पूरब के दूर देश से यूरोप के नवीन बाज़ारों में आये थे।

आर. सी. दत्त।

२—विलायती जुलाहों ने कपड़ों की किनारी बुनना ख़ास कर बङ्गाल के जुलाहों से सीखा था। पहले पहल इस देश में जब विलायती कपड़े आये थे, उनकी किनारियाँ ऐसी वाहियात होती थीं कि आज कल के

ढाके, चँदेरी आदि की कारीगरी अब है कहाँ ?
हा ! आज हिन्दू-नारियों की कुशलता सब है कहाँ ?
थी वह कला या क्या, कि ऐसी सूक्ष्म थी, अनमोल थी,
सौ हाथ लम्बे सूत की बस आध रत्ती तोल थी१ ॥ १०१ ॥

रक्खा नली में बाँस को जो थान कपड़े का नया२,
आश्चर्य अम्बारी सहित हाथी उसीसे ढक गया।
वे वस्त्र कितने सूक्ष्म थे, कर लो कई जिनकी तहें—
शहज़ादियों के अङ्ग फिर भी झलकते जिनमें रहें ! ॥ १०२ ॥

लोग उन कपड़ों को बर्तने की इच्छा कभी न करते। क्रमशः जब विलायती कपड़ों की किनारियाँ देशी कपड़ों की भाँति होने लगीं, तब इस देश के बहुतेरे लोगों ने आश्चर्य मान कर कहा था कि इन कपड़ों को विलायती समझना कठिन जान पड़ता है, ये तो ठीक देशी कपड़ों की भाँति बन गये हैं।

१—पहले दिल्ली-दरबार में ढाके से कुछ सूत भेजा गया था। उस १५० हाथ लम्बे सूत का वज़न सिर्फ १ रत्ती था। पर ढाका ज़िले के सुनारगाँव में १७५ हाथ लम्बे सूत का वज़न १ रत्ती पाया गया था। ढाका के रेज़ीडेंट साहब ने १८४६ ई० में एक किताब लिखी थी। उसमें लिखा है कि एक बार सिर्फ आध सेर रुई में २५० मील लम्बा सूत तैयार किया गया था !

२—(क) एक कारीगर ने, अकबर बादशाह को, एक मलमल का थान बाँस की एक छोटी-सी नली में रख कर, नज़र किया था। वह था इतना लम्बा-चौड़ा कि उससे अम्बारी सहित हाथी ढँक जाता था।

(ख) ढाके में जो ख़ास मलमल बनती थी, उसका थान कोई १० गज़ लम्बा और १ हाथ चौड़ा होता था। इस १० गज़ वाले

थे मुग्ध वस्त्रों पर हमारे अन्य देशी सर्वथा,
यूरोप के ही साहबों को हम सुनाते हैं कथा।
वे लोग वस्त्रों को यहाँ के थे सदैव सराहते,
निज देश के पट मुफ्त में भी थे न लेना चाहते१ ॥ १०२ ॥

थान का वज़न होता था सिर्फ़ ८ तोला ४॥ माशे ! सुनते हैं, इस का लिपटा हुआ एक थान अँगूठी के सूराख़ में से आर पार हो जाता था।

(ग) एक दफ़े औरंगज़ेब की लड़की ने ढाके के मसलिन (यह कपड़ा मलमल और तंजेब से भी बढ़िया और हलका होता था) का कोई वस्त्र बनवा कर पहना। पर जब उसके बाप ने उसे देखा तब वह उस पर नाराज़ हुआ। बात यह थी कि उस वस्त्र से उसके सारे अंग दिखलाई देते थे। बाप को नाराज़ होते देख लड़की ने कहा—कई तह करके तो मैंने इसे पहना है; इस पर भी यदि इसका बारीकपन दूर न हो तो मेरा क्या क़ुसूर ?

(घ) वस्त्रों की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए, महाकवि माघ ने, 'शिशुपाल-वध' में, एक जगह लिखा है—

"छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु ।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥"

१—हिंदुस्तानी माल विलायती माल की अपेक्षा कई गुना अच्छा होता है। एक हिन्दुस्तानी शाल को हम सात वर्ष से काम में ला रहे हैं, किन्तु, इतने दिनों तक उपयोग में लाने पर भी उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि यूरोपियन शाल मुफ़्त मिलने पर भी हम उसका व्यवहार नहीं करना चाहते।

सर टामस मनरो।

जिस भाँति भारतवर्ष का व्यापार नष्ट किया गया,
कर से तथा प्रतिरोध से जिस भाँति भ्रष्ट किया गया।
वर्णन वृथा है उस विषय का, सोचना अब है यहाँ—
किस भाँति उसकी वृद्धि हो, जैसे कि पहले थी रही ॥ १०४ ॥

यदि हम विदेशी माल से मुहँ मोड़ सकते हैं नहीं—
तो हाय! उसका मोह भी क्या छोड़ सकते हैं नहीं?
क्या बन्धुओं के हित तनिक भी त्याग कर सकते नहीं?
निज देश पर क्या अल्प भी अनुराग कर सकते नहीं? ॥१०५॥

रईस

है दीन, पर क्या देश की ऐसी अवस्था भी नहीं—
आवश्यकीय पदार्थ जो बनने लगें क्रम से यहीं?
कल-कारखाने खोल दें ऐसे धनी भी हैं हमीं,
पर कौन झगड़े में पड़े, हमको भला है क्या कमी ॥ १०६ ॥

तुम मर रहे हो तो मरो; तुमसे हमें क्या काम है?
हमको किसी की क्या पड़ी है, नाम है, धन-धाम है।
तुम कौन हो, जिनके लिये हमको यहाँ अवकाश हो;
सुख भोगते हैं हम, हमें क्या जो किसी का नाश हो! ॥१०७॥

राजा-रईसों की यहाँ है आज ऐसी ही दशा,
अन्धा बना देता अहो! करके बधिर मद का नशा।
बस भोग और विलास ही उनके निकट सब सार है,
संसार में है और जो कुछ वह भयङ्कर भार है! ॥ १०८ ॥

दो पैर जो पैदल चले जाता अमीर नहीं गिना,
होती न सैर प्रदर्शिनी की भी यहाँ वाहन विना।
इँगलैंड का युवराज तो सीखे कुली का काम भी,
पर काम क्या, आता नहीं लिखना यहाँ निज नाम भी! ॥१०९॥

"हो आध सेर कबाब मुझको, एक सेर शराब हो,
नूरेजहाँ की सल्तनत है, .खूब हो कि खराब हो।"
कहना मुग़ल-सम्राट[१] का यह ठीक है अब भी यहाँ,
राजा-रईसों को प्रजा की है भला परवा कहाँ? ॥११०॥

जातीयता क्या वस्तु है, निज देश कहते हैं किसे;
क्या अर्थ आत्म-त्याग का, वे जानते हैं क्या इसे?
सुख-दुःख जो कुछ है यहीं है, धर्म्म-कर्म्म अलीक है;
खाओ-पियो, मौजें करो, खेलो-हँसो, सो ठीक है! ॥१११॥

क्या सीख कर लिखना उन्हें, बनना मुहर्रिर है कहीं,
पण्डित पढ़ें, पढ़ कर कहीं उनको कथा कहनी नहीं।
कीड़े-मकोड़ों की तरह हैं काटते अक्षर उन्हें,
है प्रेम उपवर के सदृश अपनी अविद्या पर उन्हें! ॥११२॥

हैं शत्रु यद्यपि सिद्ध वे श्रीमान विद्या के सदा,
पर कौन गुण उनमें नहीं जिनके यहाँ है सम्पदा?
हा सम्पदे! सत्ता तुम्हारी है चराचरगामिनी,
संसार में सारे गुणों की बस तुम्हीं हो स्वामिनी! ॥११३॥

१ जहाँगीर।

ऐसा नहीं कि रईस अपने हैं नहीं कुछ जानते,
वे कुछ न जानें किन्तु ये दो तत्त्व हैं पहचानते—
त्रुटि कौन-सी उनकी सभा में है सजावट की पड़ी,
है 'जानकीबाई' कि 'गौहरजान' गाने में बड़ी ! ॥११४॥

दुर्विध प्रजा का द्रव्य हर कर फूँकते हैं व्यर्थ वे,
सत्कार्य्य करने के लिए हैं सर्वथा असमर्थ वे !
चाहे अपव्यय में उड़ें लाखों-करोड़ों भी अभी,
पर देश-हित में वे न देंगे एक कौड़ी भी कभी !! ॥११५॥

दुर्भिक्ष आदिक दुःख से यदि देश जाता है मरा,
तो हैं प्रसन्न कि धाम उनका अन्न-धन से है भरा।
दुर्भाग्य से यदि देश-भाई आपदा में फँस रहे—
तो नाच-मुजरे में विराजे आप सुख से हँस रहे ॥११६॥

उनकी सभा "इन्दर सभा" है इन्द्र उनको लेख लो,
वह पूर्ण परियों का अखाड़ा भाग्य हो तो देख लो !
विख्यात बोतल की दवा क्या है अमृत से कम कभी !
लेखक अधम कैसे लिखे उस स्वर्ग का वर्णन सभी !! ॥११७॥

मन हाथ में उनका नहीं, वे इन्द्रियों के दास हैं,
कल-कण्ठियाँ गुञ्जारतीं उनके अतुल आवास हैं।
वे नेत्र-बाणों से बिंधे हैं, बाल-व्यालों से डसे,
कैसे बचेंगे वे, विषय के बन्धनों से हैं कसे ॥११८॥

हाँ, नाच, भोग-विलास-हित उनका भरा भाण्डार है,
धिक्धिक पुकार मृगाङ्क भी देता उन्हें धिक्कार है!
वे जागते हैं रात भर, दिन भर पड़े सोवें न क्यों?
है काम से ही काम उनको, दूसरे रोवें न क्यों! ॥११९॥

बस भाँड़, भँडुवे, मसखरे उनकी सभा के रत्न हैं,
करते रिझाने को उन्हें अच्छे बुरे सब यत्न हैं।
धारा वचन को कौन जो उनके सुखार्थ न बह उठे?
है कौन, उनकी बात पर जो 'हाँ हुजूर' न कह उठे? ॥१२०॥

देशी नरेशों को ज़रा भी ध्यान होता देश का,
होते न विषयाधीन यदि वे त्याग कर उद्देश का।
तो दूसरा ही दृश्य होता आज भारतवर्ष का,
दिन देखना पड़ता हमें क्यों आज यह अपकर्ष का? ॥१२१॥

है अन्य धनियों की दशा भी ठीक ऐसी ही यहाँ,
देखें दशा जो देश की अवकाश है उनको कहाँ?
रक्खें मितव्यय तो बड़ों में व्यर्थ उनका नाम है,
है इत्र मिल सकता जहाँ तक तेल का क्या काम है! ॥१२२॥

रईसों के सपूत

जब याद आती है बड़ों के उन सपूतों की कथा,
उनके सखा, सङ्गी, विदूषक और दूतों की कथा।
तब निकल पड़ते हैं हृदय से वचन ऐसे दुख भरे—
होवें न ऐसे पुत्र चाहे हो कुल-क्षय हे हरे! ॥१२३॥

यों तो सभी का बीतता है बाल्यकाल विनोद में,
वे किन्तु सोते-जागते रहते सदा हैं गोद में।
इस भाँति पल कर प्यार में जब वे सपूत बड़े हुए,
उत्पात उनके साथ ही घर में अनेक खड़े हुए ! ॥१२४॥

श्रीमान शिक्षा दें उन्हें तो श्रीमती कहती वहीं—
"घेरो न लल्ला को हमारे, नौकरी करनी नहीं !"
शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनी;
लो मूर्खते ! जीती रहो, रक्षक तुम्हारे हैं धनी !!! ॥१२५॥

तीतर, लवे, मेंढ़े, पतंगें वे लड़ाते हैं कभी,
वे दूसरों के व्यर्थ झगड़े मोल लाते हैं कभी।
दस, बीस उनके दुर्व्यसन हों तो गिने भी जा सकें,
पथ या विपथ है कौन ऐसा वे न जिस पर आ सकें ! ॥१२६॥

निकले कि फिर दस पाँच चिड़ियाँ मार लाना है उन्हें,
बन्दूक़ ले, वन-जन्तुओं पर बल दिखाना है उन्हें।
घातक ! तुम्हारी तो सहज ही शाम को यह सैर है,
पर उन अभागों से कहो, किस जन्म का, यह वैर है ? ॥१२७॥

आया जहाँ यौवन उन्हें बस भूत मानों चढ़ गया,
जीवन सफल करणार्थ अब उनमें अपव्यय बढ़ गया !
सौन्दर्य्य के शशि-लोक में सब ओर उनके चर उड़े,
गुंडे, "पसीने की जगह लोहू" बहाने को जुड़े ! ॥१२८॥

सङ्गीत के मर्मज्ञ उनसे आज वे ही दीखते,
हैं आप भी उनमें बहुत गाना-बजाना सीखते।
यदि रंडियों के साथ वे ठेका लगाते हैं कभी—
तो क्या हुआ? अपनी प्रिया पर प्रेम रखते हैं सभी! ॥१२९॥

रहती उन्हीं के ठाठ की है धूम मेलों में सदा,
आगे मिलेंगे वे थियेटर और खेलों में सदा।
वे नाच-मुजरे और जल्से हैं उन्हीं से लग रहे,
हैं यार लोगों के उन्हीं से भाग्य जग में जग रहे ॥१३०॥

यों कुछ दिनों घर फूँक कौतुक देख कर नङ्गे हुए।
फिर क्या हुआ? "सरकार" थे जो दीन भिखमङ्गे हुए
हँसने लगा संसार उनको यार छोड़ गये सभी,
लुच्चे-लफङ्गे भी किसी के मीत होते हैं कभी? ॥१३१॥

आशा भविष्यत् की हमारी क्या इन्हीं पर लग रही?
क्या पुन्नरक से अन्त में हमको उबारेंगे यही?
बेड़ा इन्हीं से पार होगा क्या स्वदेश-समाज का?
होगा सु-दृढ़ फिर राज्य किसके हाथ से कलिराज का?॥१३२॥

अविद्या

ये सब अ-शिक्षा के कुफल हैं, वास है जिसका यहाँ;
अध्यात्म विद्या का भवन हा! आज वह भारत कहाँ?
धिक्कार है, हम खो चुके हैं आज अपना ज्ञान भी;
खोकर सभी कुछ अन्त में खोया महाधन मान्य भी! ॥१३३॥

हा ! सैकड़े पीछे यहाँ दस भी सुशिक्षित जन नहीं !
हाँ, चाह कुलियों की कहीं हो, तो मिलेंगे सब कहीं !!
हतभाग्य भारत ! जो कभी गुरुभाव से पूजित रही—
करती भुवन में भृत्यता सन्तान अब तेरी वही !!! ॥१३४॥

छाई अविद्या की निशा है, हम निशाचर बन रहे;
हा ! आज ज्ञानाऽभाव से वीभत्स रस में सन रहे !
हे राम ! इस ऋषि-भूमि का उद्धार क्या होगा नहीं ?
हम पर कृपा कर आपका अवतार क्या होगा नहीं ?॥१३५॥

विद्या विना अब देख लो, हम दुर्गुणों के दास हैं;
हैं तो मनुज हम, किन्तु रहते दनुजता के पास हैं।
दायें तथा बायें सदा सहचर हमारे चार हैं—
अविचार, अन्धाचार हैं, व्यभिचार, अत्याचार हैं ! ॥१३६॥

हा ! गाढ़तर तमसावरण से आज हम आच्छन्न हैं,
ऐसे विपन्न हुए कि अब सब भाँति मरणासन्न हैं !
हम ठोकरें खाते हुए भी होश में आते नहीं,
जड़ हो गये ऐसे कि कुछ भी जोश में आते नहीं ! ॥१३७॥

शिक्षा की अवस्था

हा ! आज शिक्षा-मार्ग भी सङ्कीर्ण होकर क्लिष्ट है,
कुलपति-सहित उन गुरुकुलों का ध्यान ही अवशिष्ट है।
बिकने लगी विद्या यहाँ अब, शक्ति हो तो क्रय करो,
यदि शुल्क* आदि न दे सको तो मूर्ख रह कर ही मरो ! ॥१३८॥

* फ़ीस ।

ऐसी असुविधा में कहो वे दीन कैसे पढ़ सकें?
इस ओर वे लाखों अकिञ्चन किस तरह से बढ़ सकें?
अधपेट रह कर काटते हैं मास के दिन तीस वे,
पावें कहाँ से पुस्तकें, लावें कहाँ से फ़ीस वे? ॥१३९॥

वह आधुनिक शिक्षा किसी विध प्राप्त भी कुछ कर सको—
तो लाभ क्या, बस क्लर्क बन कर पेट अपना भर सको!
लिखते रहो जो सिर झुका सुन अफ़सरों की गालियाँ!
तो दे सकेंगी रात को दो रोटियाँ घरवालियाँ! ॥१४०॥

अब नौकरी ही के लिए विद्या पढ़ी जाती यहाँ,
बी० ए० न हों हम तो भला डिप्टीगरी रक्खी कहाँ?
किस स्वर्ग का सोपान है तू हायरी, डिप्टीगरी!
सीमा समुन्नति की हमारी, चित्त में तू ही भरी!! ॥१४१॥

शिक्षार्थ छात्र विदेश भी जाते अवश्य कभी कभी,
पर वक्तृता ही झाड़ते हैं लौट कर प्रायः सभी!
है काम कितनों का यही पहले यहाँ मिस्टर बने,
इँगलैंड जाकर फिर वहाँ वाग्वीर वारिस्टर बने॥१४२॥

वे वीर हाय! स्वदेश का करते यही उपकार हैं—
दो भाइयों के युद्ध में होते वही आधार हैं!
उनके भरोसे पर यहाँ अभियोग चलते हैं बड़े,
हारें कि जीतें आप, उनके किन्तु पौबारह पड़े! ॥१४३॥

जाकर विदेश अनेक अब तक युवक अपने आ चुके,
पर देश के वाणिज्य-हित की ओर कितने हैं झुके ?
हैं कारख़ाने कौन-से उनके प्रयत्नों से चले ?
क्या क्या सु-फल निज देश में उनसे अभी तक हैं फले?॥१४४॥

अमरीकनों के पात्र जूँठे साफ़ कर पण्डित हुए,
सच्चे स्वदेशी मान से फिर भी नहीं मण्डित हुए !
दृष्टान्त बनते हैं अधिक वे इस कहावत के लिए—
"बारह बरस दिल्ली रहे पर भाड़ ही झोंका किये !" ॥१४५॥

दासत्व के परिणाम वाली आज है शिक्षा यहाँ,
हैं मुख्य दो ही जीविकाएँ—भृत्यता, भिक्षा यहाँ !
या तो कहीं बन कर मुहर्रिर पेट का पालन करो,
या मिल सके तो भीख माँगो, अन्यथा भूखों मरो ! ॥१४६॥

बिगड़े हमारे अब सभी स्वाधीन वे व्यवसाय हैं,
भिक्षा तथा बस भृत्यता ही आज शेष उपाय हैं।
पर हाय ! दुर्लभ हो रही है प्राप्ति इनकी भी यहाँ,
यह कौन जाने इस पतन का अन्त अब होगा कहाँ ! ॥१४७॥

वह साम्प्रतिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है,
हममें, हमारे देश के प्रति, द्वेष-मति की मूल है।
हममें विदेशी-भाव भर के वह भुलाती है हमें,
सब स्वास्थ्य का संहार करके वह रुलाती है हमें !! ॥१४८॥

होती नहीं उससे हमें निज धर्म्म में अनुरक्ति है,
होने न देती पूर्वजों पर वह हमारी भक्ति है।
उसमें विदेशी मान का ही मोह-पूर्ण महत्व है,
फल अन्त में उसका वही दासत्व है, दासत्व है! ॥१४९॥

हम मूर्ख और असभ्य थे, उससे विदित होता यही,
इस मर्म को कि हमीं जगद्गुरु थे, छिपाती है वही।
"फ्री थाट*" हो वह वेद के बदले रटाती है हमें,
देखो, हटा कर असलियत से वह घटाती है हमें ॥१५०॥

क्या लाभ है उन हिस्ट्रियों को कण्ठ करने से भला—
रटते हुए जिनको हमारा बैठ जाता है गला?
हा! स्वेद बन कर व्यर्थ ही बहता हमारा रक्त है,
सन्-संवतों के फेर में बरबाद होता वक्त है! ॥१५१॥

दुर्भाग्य से अब एक तो वह ब्रह्मचर्य्याश्रम नहीं,
तिस पर परिश्रम व्यर्थ यह पड़ता हमें कुछ कम नहीं!
फिर शीघ्र ही चश्मा हमारे चक्षु चाहें क्यों नहीं?
हम रुग्ण होकर आमरण दुख से कराहें क्यों नहीं? ॥१५२॥

है व्यर्थ वह शिक्षा कि जिससे देश की उन्नति न हो,
जापान के विद्यार्थियों की सूक्ति है कैसी अहो!—
"साहब! हमें यूरोपियन हिस्ट्री न अब दिखलाइए,
बेलून की रचना हमें करके कृपा सिखलाइए" ॥१५३॥

*Free-thought विचारों की निरंकुशता, यद्वा तद्वा कहना।

करके सु-शिक्षा की उपेक्षा यों पतित हम हो रहे,
हो प्राप्त पशुता को स्वयं मनुजत्व अपना खो रहे।
आहार, निद्रा आदि में नर और पशु क्या सम नहीं ?
है ज्ञान का बस भेद सो भूले उसे क्या हम नहीं ? ॥ १५४॥

धर्मोपदेशक विश्व में जाते जहाँ से थे सदा,
शिक्षार्थ आते थे जहाँ संसार के जन सर्वदा।
अज्ञान के अनुचर वहाँ अब फिर रहे फूले हुए,
हम आज अपने आपको भी हैं स्वयं भूले हुए ॥१५५॥

अपमान हाय ! सरस्वती का कर रहे हम लोग हैं,
पर साथ ही इस धृष्टता का पा रहे फल-भोग हैं !
निज देवता के कोप में कल्याण किसका है भला,
हम मोह-मुग्ध फँसा रहे हैं आप ही अपना गला ॥१५६॥

साहित्य

उस साम्प्रतिक साहित्य पर भी ध्यान देना चाहिए,
उसकी अवस्था भी हमें कुछ जान लेना चाहिए।
मृत हो कि जीवित, जाति का साहित्य जीवन-चित्र है,
वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह जाति भी अपवित्र है ॥१५७॥

जिस जाति का साहित्य था स्वर्गीय भावों से भरा—
करने लगा अब बस विषय के विष-विटप को वह हरा !
श्रुति, शास्त्र, सूत्र पुराण, रामायण, महाभारत हटे,
वे नायिकाभेदादि उनके स्थान में हैं आ डटे !! ॥१५८॥

हम तो हुए ही पतित पर दुर्भाव जो भरते गये—
सुकुमार भावी सृष्टि को भी वे पतित करते गये !
हा ! उच्च भावों को वहाँ क्रम आज भी है खो रहा,
अश्लील ग्रन्थों से हमारा शील चौपट हो रहा ! ॥१५९॥

अब सिद्ध हिन्दी ही यहाँ की राष्ट्र-भाषा हो रही,
पर है वही सबसे अधिक साहित्य के हित रो रही !
रीते पड़े अब तक अहो ! उसके अखिल भाण्डार हैं,
तुलसी तथा सूरादि के कुछ रत्न ही आधार हैं ! ! ॥१६०॥

कविता

उद्देश कविता का प्रमुख शृङ्गार रस ही हो गया,
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया !
कवि-कर्म्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ,
वह वीर रस भी स्मर-समर में हो गया परिणत यहाँ ! ॥१६१॥

सोचो, हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की—
श्रीकृष्ण को हम आड़ लेकर हानि करते लोक की ।
भगवान को साक्षी बना कर यह अनङ्गोपासना !
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना ! ! ॥१६२॥

उपन्यास

है और औपन्यासिकों का एक नूतन दल यहाँ,
फैला रहा है जो निरन्तर और भी हलचल यहाँ !
दौरात्म्य हा अब लोक-रुचि पर हो रहा है सब कहीं,
हा स्वार्थ ! तेरा जय, अरे, तू क्या करा सकता नहीं? ॥१६३॥

जो रुचि-विघातक ग्रन्थ ज्यों ही सैर करने को छुए,
स्वीया हुईं कुलटा बहुत, अनुकूल बहुधा शठ हुए !
ये भाव हम गिरते हुओं पर और पत्थर-से गिरे,
दब कर हृदय जिनसे हमारे हो गये जर्जर निरे ! ! ॥१६४॥

जो उपन्यास यहाँ सु-शिक्षा-प्रद कहा कर बिक रहे—
उनमें अधिक अविचार की ही नींव पर हैं टिक रहे ।
उनके कु-पात्रों में नरक की आग ऐसी जागती—
अपनी सु-रुचि भी पाठकों की दूर जिससे भागती ! ॥१६५॥

साद्यन्त उनमें असम्भवता घन-घटा सी छा रही,
दुर्भाव की दुर्गन्धि उनसे अन्त तक है आ रही ।
आई कहानी भी न कहनी और हम इतना बके,
'जीवन-प्रभात' न 'चन्द्रशेखर' एक भी हम लिख सके ! ॥१६६॥

लिक्खाड़ ऐसे ही यहाँ साहित्य-रत्न कहा रहे,
वे वीर वैतरणी नदी का हैं प्रवाह बहा रहे ।
वे हैं नरक के दूत किंवा सूत हैं कलिराज के !
वे मित्ररूपी शत्रु ही हैं देश और समाज के ॥१६७॥

क्या मुँह दिखावेंगे भला परलोक में वे ही कहें ?
जो कुछ नहीं आता उन्हें तो मौन ही फिर वे रहें !
पर मौन वे कैसे रहें, निरुपाय क्या भूखों मरें ?
भर जाय क्यों न समाज सारा, पाकटें उनकी भरें !! ॥१६८॥

पत्र

हैं पत्र भी प्राय: परस्पर द्वेष-भाव न छोड़ते,
दलबन्दियाँ करते हुए जी के फफोले फोड़ते।
बीड़ा लिये जो देश-हित का पथ हमें दिखला रहे—
हठ, पक्षपात तथा हमें कुत्सा वही सिखला रहे ! ॥ १६९ ॥

सङ्गीत

हैं पण्डितों की राय यह—"सङ्गीत भी साहित्य है,"
श्रुति-मार्ग से मन को सुधा-रस वह पिलाता नित्य है।
विष किन्तु उसमें भी यहाँ हमने मिला कर रख दिया,
हतभाग्य घुल घुल कर मरा जिसने कि यह रस चख लिया ॥१७०॥

जो मञ्जु मानस में तरङ्गें था उठाता भक्ति की—
अब आग भड़काता वही सङ्गीत विषयासक्ति की !
हमने वनें को भी बिगाड़ा, याद रखना है इसे,
लो, रम्य रस में विष मिलाना और कहते हैं किसे ? ॥ १७१ ॥

सङ्गीत में जब से मदन की मूर्ति अङ्कित हो गई—
वह भावुकों की भक्ति-वाणी भी कलङ्कित हो गई !
करते प्रकट थे हाय ! वे जिससे अनन्योपासना,
बढ़ने लगी देखो, उसीसे अब विषय की वासना ! ॥ १७२ ॥

गिर जाय कुछ गङ्गाम्बु भी अस्पृश्य नाली में कभी,
तो फिर उसे अपवित्र ही बतलायँगे निश्चय सभी।
यों भक्तिरस भी सन गया अश्लीलता के नील में,
गुड़ भी बनेगा नमक यदि पड़ जाय साँभर झील में ॥ १७३ ॥

कविता तथा सङ्गीत ने हमको गिराया और भी,
सच पूछिए तो अब कहीं हमको नहीं है ठौर भी।
हा ! जो कलाएँ थीं कभी अत्युच्च भावोद्गारिणी—
विपरीतता देखो कि अब वे हैं अधोगतिकारिणी ! ॥ १७४ ॥

सभाएँ

दिनदिन सभाएँ भी भयङ्कर भेद-भाव बढ़ा रहीं,
प्रस्ताव करके ही हमें कर्तव्य-पाठ पढ़ा रहीं।
पारस्परिक रण-रङ्ग से अवकाश उनको है कहाँ ?
'मत-भिन्नता' का 'शत्रुता' ही अर्थ कर लीजे यहाँ ! ॥ १७५ ॥

चन्दे बिना उनका घड़ी भर काम कुछ चलता नहीं,
पर शोक है, तो भी यहाँ समुचित सु-फल फलता नहीं।
हैं वीर ऐसे भी बहुत जो देश-हित के व्याज से—
अपने लिए हैं प्राप्त करते दान-मान समाज से ! ॥ १७६ ॥

उपदेशक

सम्मान्य बनने को यहाँ वक्तृत्व अच्छी युक्ति है,
अगुआ हमारा है वही जिसके गले में उक्ति है।
उपदेशकों में आज कितने लोग ऐसे हैं, कहें,
उपदेश के अनुसार जो वे आप भी चलते रहें ? ॥ १७७ ॥

उनको गल-ध्वनि कर्ण में ही कठिनता से पैठती,
अन्तःकरण की बात ही अन्तःकरण में बैठती।
कहना तथा करना परस्पर एक-सा जिनका नहीं —
उनके कथन का भी भला कुछ मूल्य होता है कहीं ? ॥१७८॥

है वेष तक उनका विदेशी और यह उपदेश है—
"त्यागो विदेशी वस्तुएँ पहला यही उद्देश है।"
लो, पीट दो सब तालियाँ उपदेश है कैसा खरा,
उपदेशको ! पर आप अपनी ओर तो देखो ज़रा ! ॥१७९॥

धर्म्म की दशा

था धर्म्म-प्राण प्रसिद्ध भारत, बन रहा अब भी वही;
पर प्राण के बदले गले में आज धार्म्मिकता रही !
धर्म्मोपदेश सभा-भवन की भित्ति में टकरा रहा,
आडम्बरों को देख कर आकाश भी चकरा रहा ! ॥१८०॥

बस कागज़ी घुड़दौड़ में है आज इति कर्त्तव्यता,
भीतर मलिनता हो भले हो किन्तु बाहर भव्यता।
धनवान हो धार्म्मिक बने यद्यपि अधर्म्मासक्त हैं,
हैं लाख में दो चार सुहृदय शेष बगुला भक्त हैं ! ॥ १८१ ॥

अनुकूल जो अपने हुए वेही यहाँ सद्ग्रन्थ हैं;
जितने पुरुष अब हैं यहाँ उतने समझ लो पन्थ हैं।
यों फूट की जड़ जम गई, अज्ञान आकर अड़ गया,
हो छिन्न-भिन्न समाज सारा दीन-दुर्बल पड़ गया ॥१८२॥

श्रुति क्यों न हो, प्रतिकूल हैं जो स्थल वही प्रक्षिप्त हैं,
विक्षिप्त से हम दम्भ में आपाद-मस्तक लिप्त हैं !
आक्षेप करना दूसरों पर धर्म्मनिष्ठा है यहाँ,
पाखण्डियों ही की अधिकतर अब प्रतिष्ठा है यहाँ ! ॥१८३॥

हम आड़ लेकर धर्म्म को अब लीन हैं विद्रोह में,
मत ही हमारा धर्म्म है, हम पड़ रहे हैं मोह में !
है धर्म्म बस निःस्वार्थता ही, प्रेम जिसका मूल है;
भूले हुए हैं हम इसे, कैसी हमारी भूल है ? ॥१८४॥

जिसके लिए संसार अपना सर्वकाल ऋणी रहा,
उस धर्म्म की भी दुर्दशा हमने उठा रक्खी न हा !
जो धर्म्म सुख का हेतु है, भव-सिन्धु का जो सेतु है,
देखो, उसे हमने बनाया अब कलह का केतु है !! ॥१८५॥

उद्देश है बस एक, यद्यपि पथ अनेक प्रमाण हैं—
रुचि-भिन्नतार्थ किये गये जो ज्ञान से निर्माण हैं।
पर अब पथों को ही यहाँ पर धर्म्म हैं हम मानते !
करके परस्पर घोर निन्दा व्यर्थ ही हठ ठानते ॥१८६॥

प्रभु एक किन्तु असंख्य उसके नाम और चरित्र हैं,
तुम शैव, हम वैष्णव, इसीसे हा अभाग्य ! अमित्र हैं।
तुम ईश को निर्गुण समझते, हम सगुण भी जानते,
हा ! अब इसीसे हम परस्पर शत्रुता हैं मानते ! ॥१८७॥

हिन्दू सनातन धर्म्म के ऐसे पवित्र विधान हैं—
संसार में सबके लिए जो मान्य एक समान हैं।
धृति, शान्ति, शौच, दया, क्षमा, शम, दम, अहिंसा, सत्यता;
पर हाय ! इनमें से किसी का आज हममें है पता ? ॥ १८८ ॥

विख्यात हिन्दू-धर्म्म ही सच्चा सनातन धर्म्म है,
वह धर्म्म ही धारण क्रिया का नित्य कर्ता-कर्म्म है।
परमार्थ की-संसार की भी-सिद्धि का वह धाम है,
पर वाद और विवाद में ही आज उसका नाम है ! ॥ १८९ ॥

तीर्थ और तीर्थ-पण्डे

आरम्भ से ही जो हमारे मुख्य धर्म्म-क्षेत्र हैं—
अब देख कर उनकी दशा आँसू बहाते नेत्र हैं।
हा ! गूढ़ तत्त्वों का पता ऋषि-मुनि लगाते थे जहाँ—
सबसे अधिक अविचार का विस्तार है सम्प्रति वहाँ ! ॥ १९० ॥

वे तीर्थ जो प्रभु की प्रभा से पूर्ण हो पूजित हुए—
राजर्षि-युत ब्रह्मर्षियों के कण्ठ से कूजित हुए,
अब तीर्थ-गुरु ही हैं अधिक उनको कलङ्कित कर रहे,
हा ! स्वर्ग के सु-स्थान में हम नरक अङ्कित कर रहे ! ॥ १९१ ॥

वे तीर्थ-पण्डे, है जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया;
है निन्द्य कर्म्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया !
वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य्य हैं,
लड़ना-झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य्य हैं ॥ १९२ ॥

वे आप तो हैं ही पतित, कामी, कु-पथगामी बड़े—
पर पाप के भागी हमें भी हैं बनाने को खड़े।
हम—भस्म में घृत के सदृश—देते उन्हें जो दान हैं—
बस वे उसी से दुर्व्यसन के जोड़ते सामान हैं॥ १९३॥

मन्दिर और महन्त

कैसी भयङ्कर अब हमारी तीर्थ-यात्रा हो रही,
उन मन्दिरों में ही विकृति की पूर्ण मात्रा हो रही!
अड्डे-अखाड़े बन रहे हैं ईश के आवास भी,
आती नहीं है लोक-लज्जा अब हमारे पास भी॥ १९४॥

हा! पुण्य के भाण्डार में हैं भर रहीं अघ-राशियाँ,
हैं देव आप महन्तजी हो, देवियाँ हैं दासियाँ!
तन, मन तथा धन भक्तजन अर्पण किया करते जहाँ—
वे भण्ड साधु सु-कर्म्म का तर्पण किया करते वहाँ!!॥१९५॥

अब मन्दिरों में रामजनियों के विना चलता नहीं,
अश्लील गीतों के विना वह भक्ति-फल फलता नहीं।
वे चीरहरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला-जाल हैं,
भक्त-स्त्रियाँ हैं गोपियाँ, गोस्वामि ही गोपाल हैं!!!॥ १९६॥

साधु-सन्त

वे भूरि संख्यक साधु जिनके पन्थ-भेद अनन्त हैं—
अवधूत, यति, नागा, उदासी, सन्त और महन्त हैं।
हा! वे गृहस्थों से अधिक हैं आज रागी दीखते,
अत्यल्प हो सच्चे विरागी और त्यागी दीखते॥ १९७॥

जो कामिनी-काञ्चन न छूटा फिर विराग रहा कहाँ ?
पर चिन्ह तो वैराग्य का अब है जटाओं में यहाँ !
भूखों मरे कि जटा रखा कर साधु कहलाने लगे,
चिमटा लिया, 'भस्मी' रमाई, माँगने-खाने लगे !! ॥ १९८ ॥

संख्या अनुद्योगी जनों की हा ! न उनसे बढ़ रही—
शुचि साधुता पर भी कुयश की कालिमा है चढ़ रही।
है भस्म-लेपन से कहीं मन की मलिनता छूटती ?
हा ! साधु-मर्यादा हमारी अब दिनोंदिन टूटती ! ॥ १९९ ॥

यदि ये हमारे साधु ही कर्तव्य अपना पालते—
तो देश का बेड़ा कभी का पार ये कर डालते।
पर हाय ! इनमें ज्ञान तो बस राम का ही नाम है,
दम की चिलम में लौ उठाना मुख्य इनका काम है ! ॥२००॥

ब्राह्मण

उन अग्रजन्मा ब्राह्मणों की हीनता तो देख लो,
भू-देव थे जो आज उनकी दीनता तो देख लो।
थे ब्रह्म-मूर्ति यथार्थ जो अब मुग्ध जड़ता पर हुए,
जो पीर थे देखो, वही भिश्ती, बबर्ची, खर हुए !!! ॥ २०१ ॥

वह वेद का पढ़ना-पढ़ाना अब न उनमें दीखता,
वह यज्ञ का करना-कराना कौन उनमें सीखता ?
बस पेट को ही आज उनमें दान देना रह गया,
है कर्म्म उनमें एक ही अब दान लेना रह गया ! ॥ २०२ ॥

कुछ 'शीघ्र-बोध' रटा कि फिर वे गणक-पुङ्गव बन गये,
पञ्चाङ्ग पकड़ा और बस सर्वज्ञता में सन गये !
सङ्कल्प तक भी शुद्ध वे साद्यन्त कह सकते नहीं,
वे पखरवाये पाद-पङ्कज किन्तु रह सकते नहीं ॥ २०३ ॥

सन्देह है, जप के समय क्या मन्त्र जपते मौन वे,
हैं 'ॐ नमः'—वा 'हा ! निमन्त्रण' पाठ करते कौन वे !
निश्चय नहीं दृग बन्द कर वे लीन ही भगवान में—
या दक्षिणा की मञ्जु-मुद्रा देखते हैं ध्यान में ! ॥ २०४ ॥

जिन ब्राह्मणों ने लोभ को सन्तत तिरस्कृत था किया—
देखो, उन्हीं के वंशजों को आज उसने ग्रस लिया ।
अब आप उनकी दक्षिणा पहले नियत कर दीजिये—
फिर निन्द्य से भी निन्द्य उनसे काम करवा लीजिये ! ॥२०५॥

आचार उनका आज केवल रह गया 'असनान' में,
जप, तप तथा वह तेज अब है शेष बाह्य-विधान में !
वे भ्रष्ट यद्यपि हो रहे हैं डूब कर अज्ञान में,
जाते मरे हैं किन्तु फिर भी वंश के अभिमान में ! ॥ २०६ ॥

था हाय ! जिनके पूर्वजों ने धन्य धरणीतल किया,
इस लोक की, परलोक की, प्रश्नावली को हल किया ।
सर्वत्र देखो, आज वे कैसे तिरस्कृत हो रहे,
खोकर तपोबल, ज्ञान-धन, जाते हुए मृत हो रहे ॥ २०७ ॥

क्षत्रिय

है ब्राह्मणों की यह दशा अब क्षत्रियों को लीजिए,
उनके पतन का भी भयङ्कर चित्र-दर्शन कीजिए।
अविवेक तिमिराच्छन्न अब वे अन्ध-जैसे हो रहे,
हा! सूर्य्यवंशी, चन्द्रवंशी वीर कैसे हो रहे? ॥२०८॥

विश्वेश के बाहुज अतः कर्तृत्व के जो केन्द्र थे,
जो छत्र थे निज देश के, मूर्द्धाऽभिषिक्त नरेन्द्र थे।
आलस्य में पड़ कर वही अब शव-सदृश हैं सो रहे;
कुल, मान, मर्यादा-सहित सर्वस्व अपना खो रहे! ॥२०९॥

वीरत्व हिंसा में रहा जो मूल उनके लक्ष्य का,
कुछ भी विचार उन्हें नहीं है आज भक्ष्याभक्ष्य का।
केवल पतंग विहङ्गमों में, जलचरों में नाव ही,
बस भोजनार्थ चतुष्पदों में चारपाई बच रही! ॥२१०॥

जिनसे कभी उपदेश लेने विप्र भी आते रहे,
विख्यात ब्रह्म-ज्ञान का जो मार्ग दिखलाते रहे।
देखो, उन्हीं में पड़ गई है अब अविद्या की प्रथा,
है स्वप्न आज विदेह, कोशल और काशी की कथा! ॥२११॥

जो हैं अधीश्वर, बस प्रजा पर कर लगाना जानते,
निर्द्रव्य, डाका डालना भी धर्म्म अपना मानते!
जो स्वामि-सम रक्षक रहे वे आज भक्षक बन रहे,
जो हार थे मन्दार के वे आज तक्षक बन रहे! ॥२१२॥

जो देश के प्रहरी रहे घर फूँकने वाले बने,
जो वीर वर विख्यात थे वे स्त्रैणता में हैं सने।
सुर-कार्य्य-साधक जो रहे अब दुर्व्यसन में लीन हैं,
जो थे सहज स्वाधीन वे ही आज विषयाधीन हैं! ॥२१३॥

छाया बनी थी धीरता सर्वत्र जिनके साथ की,
वे आज कठपुतली बने हैं मत्त मन के हाथ की।
मार्तण्ड थे जो अब वही हिम-खण्ड होकर बह रहे,
वे आप कुछ न करें भले ही, कर्म्म उनके कह रहे ॥२१४॥

जो शत्रु के हृत्पट्ट पर लिखते रहे जय शेल से—
वर वीरता के कार्य्य जिनके पक्ष में थे खेल-से।
रहने लगी देखो, उन्हीं पर अब चढ़ाई काम की,
नैया डुबोई है उन्होंने पूर्वजों के नाम की! ॥२१५॥

वैश्य

जो ईश के ऊरुज अतः जिन पर स्वदेश-स्थिति रही,
व्यापार, कृषि, गो-रूप में, दुहते रहे जो सब मही।
वे वैश्य भी अब पतित होकर नीच पद पाने लगे—
बनियें कहा कर वैश्य से 'बक्काल' कहलाने लगे! ॥२१६॥

वह लिपि*, कि जिसमें 'सेठ' को 'सठ' ही लिखेंगे सब कहीं—
सीखी उन्होंने और उनकी हो चुकी शिक्षा वहीं!

* मुंडिया।

हा ! वेद के अधिकारियों में आज ऐसी मूढ़ता,
है शेष उनके 'गुप्त' पद में किन गुणों की गूढ़ता ? ॥ २१७ ॥

कौशल्य उनका अब यहाँ बस तोलने में रह गया,
उद्यम तथा साहस दिवाला खोलने में रह गया !
करने लगे हैं होड़ उनके वचन कच्चे सूत से,
करते दिवाले पर परीक्षा भाग्य की वे द्यूत से ! ॥ २१८ ॥

वाणिज्य या व्यवसाय का होता शऊर उन्हें कहीं—
तो देश का धन यों कभी जाता विदेशों को नहीं ।
है अर्थ सट्टा-फाटका उनके निकट व्यापार का,
कुछ पार है देखो भला उनके महा अविचार का ? ॥२१९॥

बस हाय पैसा ! हाय पैसा ! ! कर रहे हैं वे सभी,
पर गुण बिना पैसा भला क्या प्राप्त होता है कभी ?
सबसे गये बीते नहीं क्या आज वे हैं दीखते,
वे देख सुन कर भी सभी कुछ क्या कभी कुछ सीखते ? ॥२२०॥

बस अब विदेशों से मँगा कर बेचते हैं माल वे,
मानों विदेशी वाणिजों के हैं यहाँ दल्लाल वे ।
वेतन सदृश कुछ लाभ पर वे देश का धन खो रहे,
निर्द्रव्य कारीगर यहाँ के हैं उन्हीं को रो रहे ॥ २२१ ॥

उनका द्विजत्व विनष्ट है, है किन्तु उनको खेद क्या ?
संस्कार-हीन जघन्यजों में और उनमें भेद क्या ?

उपवीत पहने देख उनको धर्म्म-भाग्य सराहिए,
पर तालियों के बाँधने को रज्जु भी तो चाहिए ! ॥ २२२ ॥

चन्दा किसी शुभ-कार्य्य में दो चार सौ जो है दिया—
तो यज्ञ मानों विश्वजित ही है उन्होंने कर लिया !
बनवा चुके मन्दिर, कुआँ या धर्म्मशाला जो कहीं,
हा स्वार्थ, तो उनके सदृश सुर भी सुयश भागी नहीं ! ! ॥२२३॥

औदार्य्य उनका दीखता है एक मात्र विवाह में,
बह जाय चाहे वित्त सारा नाच-रङ्ग-प्रवाह में !
वे वृद्ध होकर भी पता रखते विषय की थाह का,
शायद मरे भी जी उठें वे नाम सुन कर ब्याह का ! ॥२२४॥

उद्योग-बल से देश का भाण्डार जो भरते रहे—
फिर यज्ञ आदि सुकर्म्म में जो व्यय उसे करते रहे।
वे आज अपने आप ही अपघात अपना कर रहे,
निज द्रव्य खोकर घोर अघ के घट निरन्तर भर रहे ॥ २२५॥

शूद्र

जब मुख्य-वर्ण द्विजातियों का हाल ऐसा है यहाँ,
तब क्या कहें, उस शूद्र-कुल का हाल कैसा है यहाँ ?
देखो जहाँ हा ! अत्र भयङ्कर तिमिर-पूरित गर्त है,
यह दीन देश अधःपतन का बन गया आनर्त* है ! ॥ २२६ ॥

* रङ्गस्थल ।

स्त्रियाँ

होगी यहाँ तक कर्कशा क्या लेखनी ! तू स्ववशा—
गृहदेवियों की जो हमारी लिख सके तू दुर्दशा ?
किस भाँति देखोगे यहाँ, दर्शक ! दृगों को मींच लो,
यह दृश्य है क्या देखने का, दृष्टि अपनो खींच लो ॥२२७॥

अनुकूल आद्याशक्ति को सुखदायिनी जो स्फूर्ति है,
सद्धर्म्म की जो मूर्ति और पवित्रता की पूर्ति है।
नर-जाति की जननी तथा शुभ शान्ति की स्रोतस्वती,
हा दैव ! नारी-जाति की कैसो यहाँ है दुर्गती ! ॥२२८॥

होती रहीं गार्गी अनेकों और मैत्रेयी जहाँ,
अब हैं अविद्या-मूर्ति-सी कुल-नारियाँ होतीं वहाँ !
क्या दोष उनका किन्तु जो उनमें गुणों की है कमी ?
हा ! क्या करें वे जब कि उनको मूर्ख रखते हैं हमीं ! ॥२२९॥

बी. ए. गृहस्वामी विदित हैं किन्तु क्या हैं स्वामिनी ?
कैसे कहें, हा ! हैं अशिक्षारूपिणी वे भामिनो !
अत्युक्ति क्या, दिन-रात का-सा भेद जो इसको कहें;
दाम्पत्य-भाव भला हमारे धाम में कैसे रहें ? ॥२३०॥

बहु कुशलता-सूचक कलाएँ जानती थीं जो कभी,
अब कलह-कुशला हैं हमारी गृहणियाँ प्रायः सभी।
हा ! बन रहे हैं गृह हमारे विग्रहस्थल-से यहाँ,
दो नारियाँ भी हैं जहाँ वाग्बाण बरसेंगे वहाँ ! ॥२३१॥

रखतीं यही गुण वे कि गन्दे गीत गाना जानतीं,
कुल, शील, लज्जा उस समय कुछ भी नहीं वे मानतीं !
हँसते हुए हम भी अहो ! वे गीत सुनते सब कहीं,
रोदन करो हे भाइयो ! यह बात हँसने की नहीं !॥ २३२॥

है ध्यान पति से भी अधिक आभूषणों का अब उन्हें,
तब तुष्ट हों तो हों कि मद दो मण्डनों से जब उन्हें।
है यह उचित ही, क्योंकि जब अज्ञान से हैं दूषिता—
क्या फिर भला आभूषणों से भी न हों वे भूषिता ? ॥२३३॥

अत्यल्प भी अपराध पर डंडे उन्हें हम मारते,
पर हेतु उनकी मूर्खता का सोचते न विचारते।
हैं हाय ! दोषी तो स्वयं देते उन्हें हम दण्ड हैं,
आश्चर्य क्या फिर पा रहे जो दुःख आज अखण्ड हैं ॥२३४॥

ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।
भागें न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ,
पातीं स्त्रियाँ आदर जहाँ रहती वहीं सब ऋद्धियाँ ॥२३५॥

हम डूबते हैं आप तो अघ के अँधेरे कूप में—
हैं किन्तु रखना चाहते उनको सती के रूप में।
निज दक्षिणाङ्ग पुरीष से रखते सदा हम लिप्त हैं,
वामाङ्ग में चन्दन चढ़ाना चाहते, विक्षिप्त हैं ! ॥२३६॥

क्या कर नहीं सकतीं भला यदि शिक्षिता हों नारियाँ ?
रण-रङ्ग, राज्य, सुधर्म्म-रक्षा, कर चुकीं सुकुमारियाँ।
लक्ष्मी, अहल्या, बायजाबाई, भवानी, पद्मिनी[1]—
ऐसी अनेकों देवियाँ हैं आज जा सकती गिनी ॥ २३७ ॥

सोचो, नरों से नारियाँ किस बात में हैं कम हुईं ?
मध्यस्थ वे शास्त्रार्थ में हैं भारती[2] के सम हुईं।
हैं धन्य थेरी-तुल्य गाथा-कर्त्रियाँ[3] वे सर्वथा,
कवि हो चुकी हैं विज्जका[4], विजया[5], मधुरवाणी[6] यथा ॥ २३८ ॥

१-ये सब देवियाँ, क्रम से झाँसी, इन्दौर, गवालियर, नाटौर (बङ्गाल) और चित्तौर की रानियाँ थीं। इनका विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं।

२-भारती—मंडन मिश्र की स्त्री। इसने भगवान शङ्कराचार्य्य से शास्त्रार्थ किया था।

३-थेरीगाथा नामकी एक पुस्तक पाली भाषा में है। यह कोई दो ढाई हज़ार बर्ष की पुरानी है उसमें ७०-८० बौद्ध स्त्रियों की धार्मिक कविताएँ हैं। उसका अनुवाद अँगरेज़ी और बँगला में भी हो गया है।

४-विज्जका—नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानतः।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

५-विजया-सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

६-मधुरवाणी-तत्ताद्दग्घटिकार्द्ध निर्मित शतश्लोकी फणिग्रामणी।
वाणी प्राकृतिशाब्दनैपुणसमुन्मीलद्यशः श्री जुषा ॥
वीणावादकलाविनोदसमये धृत्वा समस्याशतं।
सद्यस्संसदि सानुपूरयति या दत्ता कवीन्द्रैस्तया ॥

निज नारियों के साथ यदि कर्तव्य अपना पालते,
अज्ञान के गहरे गढ़े में जो न उनको डालते,
तो आज नर यों मूर्ख होकर पतित क्यों होते यहाँ ?
होती जहाँ जैसी स्त्रियाँ वैसे पुरुष होते वहाँ ॥२३९ ॥

पाले हुए पशु-पक्षियों का ध्यान तो रखते सभी,
पर नारियों की दुर्दशा क्या देखते हैं हम कभी ?
हमने स्वयं पशु-वृत्ति का साधन बना डाला उन्हें,
सन्तान-जनने मात्र को वसनान्न दे पाला उन्हें ॥ २४० ॥

सन्तान

सन्तान कैसी है हमारी, सो हमीं से जान लो,
मुख देख कर ही बुद्धि से मन को स्वयं पहचान लो।
उस बीज के अनुरूप ही अंकुर प्रकट होते सदा,
हम रख सके रक्षित न हा ! सन्तान-सी भी सम्पदा ! ॥२४१॥

हैं आप बच्चे बाप जिनके पुष्ट हों वे क्या भला ?
आश्चर्य है, अब भी हमारा वंश जाता है चला !
दुर्भाग्य ने दुर्बोध कर के है हमें कैसा छला,
हा ! रह गई है शेष अब तो एक ही शशि की कला ! ॥२४२ ॥

कितना अनिष्ट किया हमारा हाय ! बाल्य-विवाह ने,
अन्धा बनाया है हमें उस नातियों की चाह ने !
हा ! ग्रस लिया है वीर्य्य-बल को मोह रूपी ग्राह ने,
सारे गुणों को है बहाया इस कुरीति-प्रवाह ने ॥ २४३ ॥

अल्पायु में हैं हम सुतों का ब्याह करते किस लिये ?
गार्हस्थ्य का सुख शीघ्र ही पाने लगें वे, इसलिये।
वात्सल्य है या वैर है यह, हाय ! कैसा कष्ट है ?
परिपुष्टता के पूर्व ही बल-वीर्य्य होता नष्ट है ! ॥२४४॥

उस ब्रह्मचर्य्याश्रम-नियम का ध्यान जब से हट गया—
सम्पूर्ण शारीरिक तथा वह मानसिक बल घट गया।
हैं हाय ! काहे के पुरुष हम, जब कि पौरुष ही नहीं !
निःशक्त पुतले भी भला पौरुष दिखा सकते कहीं ? ॥२४५॥

यदि ब्रह्मचर्य्याश्रम मिटा कर शक्ति को खोते नहीं—
तो आज दिन मृत जातियों में गण्य हम होते नहीं।
करते नवाविष्कार जैसे दूसरे हैं कर रहे—
भरते यशो-भाण्डार जैसे दूसरे हैं भर रहे ॥ २४६ ॥

जो हाल ऐसा ही रहा तो देखना, है क्या अभी;
होंगे यहाँ तक क्षीण हम विस्मय बढ़ावेंगे कभी।
सिद्धान्त अपना उलट देंगे डारविन साहब यहाँ—
हो क्षुद्रकाय अबोध नर बन्दर बनेंगे जब यहाँ ! ॥२४७॥

समाज

हिन्दू-समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा,
ध्रुव धर्म्म-पथ में कु-प्रथा का जाल-सा है बिछ रहा।

सु-विचार के साम्राज्य में कु-विचार की अब क्रान्ति है,
सर्वत्र पद पद पर हमारी प्रकट होती भ्रान्ति है ॥२४८॥

बेजोड़ विवाह

प्रति वर्ष विधवा-वृन्द की संख्या निरन्तर बढ़ रही,
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिल कर मही।
हा! देख सकता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को?
फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं बाल्य-वृद्ध-विवाह को! ॥२४९॥

अन्धपरम्परा

सब अङ्ग दूषित हो चुके हैं अब समाज-शरीर के,
संसार में कहला रहे हैं हम फ़कीर लकीर के!
क्या बाप-दादों के समय की रीतियाँ हम तोड़ दें?
वे रुग्ण हों तो क्यों न हम भी स्वस्थ रहना छोड़ दें! ॥२५०॥

वर-कन्या-विक्रय

बिकता कहीं वर है यहाँ बिकती तथा कन्या कहीं,
क्या अर्थ के आगे हमें अब इष्ट आत्मा भी नहीं!
हा! अर्थ, तेरे अर्थ हम करते अनेक अनर्थ हैं—
धिक्कार, फिर भी तो नहीं सम्पन्न और समर्थ हैं? ॥२५१॥

क्या पाप का धन भी किसी का दूर करता कष्ट है?
उस प्राप्तकर्त्ता के सहित वह शीघ्र होता नष्ट है।
आश्चर्य्य क्या है, जो दशा फिर हो हमारी भी वही,
पर लोभ में पड़ कर हमारी बुद्धि अब जाती रही! ॥२५२॥

धनोपार्जन

हैं धन कमाने के हमारे और ही साधन यहाँ,
होंगे कमाऊ और उद्यमशील ऐसे जन कहाँ ?
हमको बुराई कुछ नहीं कोई कहे जो ठग हमें,
अत्यन्त हीन-चरित्र अब तो जानता है जग हमें ॥२५३॥

निज स्वत्व, पर-सम्पत्ति पर कोई जमाता है यहाँ
कोई शकुनि का अनुकरण कर धन कमाता है यहाँ।
कहने चले फिर लाज क्या, रसने ! परन्तु हरे ! हरे !
ठग, चोर, वञ्चक और कितने घूँसखोर यहाँ भरे !!! ॥२५४॥

सच हो कि झूँठ, किसी किसी का साक्ष्य पर ही लक्ष है,
परलोक में कुछ हो, यहाँ तो लाभ ही प्रत्यक्ष है !
सत्कार जामाता-सदृश आहार में, उपहार में,
सोचो, भला है लाभ ऐसा और किस व्यापार में ? ॥२५५॥

कर के मिलावट हो, विदेशी खाँड़ में गुड़ की यथा,
हरते बहुत हैं देश के धन-धर्म्म दोनों सर्वथा।
यों हो स्वदेशी में विदेशी माल बिकता है यहाँ !
होगा कहो स्वार्थाग्नि में यों सत्य का स्वाहा कहाँ ? ॥२५६॥

अब विज्ञ व्यवसायी जनों की ओर भी तो कुछ बढ़ो,
उन चारु चित्र-विचित्र वर विज्ञापनों को तो पढ़ो।
मानों वहाँ वैकुण्ठ का ही चमत्कार भरा पड़ा !
हा ! वञ्चना का बाह्य-दर्शन है मनोमोहक बड़ा ॥ २५७॥

कोई सुधा देकर हमें देता अमरता है वहाँ,
दे यन्त्र-मन्त्र, अभीष्ट कोई सिद्ध करता है वहाँ!
कुछ लाभ हो कि न हो हमें पर यह अवश्य यथार्थ है—
उन 'सत्यवक्ता' सज्जनों का सिद्ध होता स्वार्थ है ॥२५८॥

अपकार-कर्ता धूर्त वे उपकारियों के वेश में—
हा! लूटपाट मचा रहे हैं दिन दहाड़े देश में।
उनके विकृत विज्ञापनों से पूर्ण रहते पत्र हैं,
एजेंट जेन्टलमैंन बनकर घूमते सर्वत्र हैं ॥२५९॥

माँगना-खाना

कर-युक्त भी क्या कार्य्य करना चाहते हैं हम कभी?
क्या हम कुलीन कुली बनें? होगा न हमसे श्रम कभी।
है मान रक्खा काम हमने माँगना आराम का,
जीते यहाँ पर हैं बहुत खाकर सदैव हराम का! ॥२६०॥

हम नीच को ऊँचा बनाते भीख के पीछे कभी,
बनते कभी हम आप योगी और सन्तादिक सभी।
कोई गिने, कितने यहाँ पर माँगने के ढङ्ग हैं,
नट-तुल्य पल पल में बदलते हम अनेकों रङ्ग हैं! ॥२६१॥

दासत्व

दासत्व करना भी हमें आया न अच्छी रीति से,
करते उसे भी हम अधम हैं अब अधर्म्म-अनीति से!
वह स्वामि-कार्य्य बने कि बिगड़े किन्तु अपना काम हो,
इस नीचता की नीचता का अब कहो, क्या नाम हो? ॥२६२॥

अधिकार

हम योग भी पाकर उसे उपयोग में लाते नहीं,
सामर्थ्य पाकर भी किसी को लाभ पहुँचाते नहीं ?
जैसे बने हम दूसरों को हानि ही करते सदा,
अधिकार पाकर और भी अघ के घड़े भरते सदा ! ॥ २६३ ॥

न्यायालयों में भी निरन्तर घूँस खाते हैं हमीं,
रक्षक पुलिस को भी यहाँ भक्षक बनाते हैं हमीं ।
कर्तृत्व का फल हम प्रजा पर बल दिखाना जानते,
हम दीन-दुखियों के रुदन को गान-सम हैं मानते ! ॥२६४॥

अभियोग

हा ! हिंस्र पशुओं के सदृश हममें भरी है क्रूरता,
करके कलह अब हम इसी में समझते हैं शूरता ।
खोजो हमें यदि जब कि हम घर में न सोते हों पड़े-
होंगे वकीलों के अड़े अथवा अदालत में खड़े ! ॥ २६५॥

न्यायालयों में नित्य ही सर्वस्व खोते सैकड़ों,
प्रति वार, पग पग पर, वहाँ हैं खर्च होते सैकड़ों ।
फिर भी नहीं हम चेतते हैं दौड़ कर जाते वहीं,
लघु बात भी हम पाँच मिल कर आप निपटाते नहीं ॥२६६॥

विपथ

देखो जहाँ विपरीत पथ ही हाय ! हमने है लिया,
श्रीराम के रहते हुए आदर्श रावण को किया !

हम हैं सुयोधन के अनुग तज कर युधिष्ठिर को अहो !
सोचो भला, तब फिर हमारा पतन दिन दिन क्यों न हो ?॥ २६७॥

नशेबाज़ी

हम मत्त हैं, हम पर चढ़ा कितने नशों का रङ्ग है—
चंडू, चरस, गाँजा, मदक, अहिफेन, मदिरा, भङ्ग है ।
सुनलो ज़रा, हममें यहाँ कैसी कहावत है चली—
"पीता न गाँजे की कली उस मर्द से औरत भली" ! ॥२६८॥

क्या मर्द हैं हम वाहवा ! मुख-नेत्र पीले पड़ गये;
तनु सूख कर काँटा हुआ, सब अङ्ग ढीले पड़ गये ।
मर्दानगी फिर भी हमारी देख लीजे कम नहीं—
ये भिनभिनाती मक्खियाँ क्या मारते हैं हम नहीं ! ॥२६९॥

अँगरेज़ वणिकों ने नशे की लौ लगाई है हमें,
हम दोष देते हैं कि तब यह मौत आई है हमें ।
पर व्यर्थ है यह दोष देना, हैं हमीं दोषी बड़े;
हम लोग कहने से किसी के क्यों कुएँ में गिर पड़े ? ॥२७०॥

जो मस्त होकर "तत्वमसि" का गान करते थे सदा—
स्वच्छन्द ब्रह्मानन्द-रस का पान करते थे सदा ।
मद्यादि मादक वस्तुओं से मत्त हैं अब हम वही,
करते सदैव प्रलाप हैं, सुधबुध समो जाती रही ! ॥२७१॥

दो चार आने रोज़ के भी जो कुली मज़दूर हैं—
सन्ध्या-समय वे भी नशे में दीख पड़ते चूर हैं ।

मर जायँ चाहे बाल-बच्चे भूख के मारे सभी,
पर छोड़ सकते हैं नहीं उस दुर्व्यसन को वे कभी ! ॥२७२॥

शुचिता विदित जिनकी वही हम आज कैसे भ्रष्ट हैं,
किस भाँति दोनों लोक अपने कर रहे हम नष्ट हैं ।
हम आर्य्य हैं पर अब हमारे चरित कैसे गिर गये,
हम दुर्गुणों से घिर गये हैं, सद्गुणों से फिर गये ! ॥२७३॥

आत्मविस्मृति

हम आज क्या से क्या हुए, भूले हुए हैं हम इसे;
है ध्यान अपने मान का हममें बताओ अब किसे ?
पूर्वज हमारे कौन थे, हम को नहीं यह ज्ञान भी,
है भार उनके नाम पर दो अञ्जली जल-दान भी ! ॥२७४॥

होकर नितान्त परावलम्बी पशु-सदृश हम जी रहे,
हा ! कालकूट सभी परस्पर फूट का हैं पी रहे !
हम देखते सुनते हुए भी देखते सुनते नहीं,
पढ़ना सभी है व्यर्थ उनका जो कभी गुनते नहीं ॥२७५॥

मात्सर्य्य

अब एक हममें दूसरे को देख सकता है नहीं,
वैरी समझना बन्धु को भी, है समझ ऐसी यहीं !
कुत्ते परस्पर देख कर हैं दूर से ही भूकते,
पर दूसरे को एक हम कब काटने से चूकते ? ॥२७६॥

हों एक माँ के सुत कई व्यवहार सबके भिन्न हों,
सम्भव नहीं यह किन्तु जो सम्बन्ध-बन्धन छिन्न हों ।
पर यह असम्भव भी यहाँ प्रत्यक्ष सम्भव हो रहा,
राष्ट्रीय भाव-समूह मानों सर्वदा को सो रहा ! ॥ २७७ ॥

अनुदारता

यदि एक अद्भुत बात कोई ज्ञात मुझको हो गई—
तो हाय ! मेरे साथ ही संसार से वह खो गई ।
उसको छिपा रक्खूँ न मैं तो कौन पूछेगा मुझे;
कितने प्रयोग-प्रदीप इस अनुदारता से हैं बुझे ! ॥ २७८ ॥

गृह-कलह

इस गृह-कलह के अर्थ भारत-भूमि रणचण्डी बनी,
जीवन अशान्ति-प्रपूर्ण सबके, दीन हो अथवा धनी !
जब यह दशा है गेह की, क्या बात बाहर की कहें ?
है कौन सहृदय जन न जिसके अब यहाँ आँसू बहें ? ॥२७९॥

उद्दण्ड उग्र अनैक्य ने क्षय कर दिया है क्षेम का,
विद्वेष ने पद हर लिया है आज पावन प्रेम का ।
ईर्ष्या हमारे चित्त से क्षण मात्र भी हटती नहीं,
दो भाइयों में भी परस्पर अब यहाँ पटती नहीं ! ॥ २८० ॥

इस गृह-कलह से ही, कि जिसकी नींव है अविचार की—
निन्दित कदाचित है प्रथा अब सम्मिलित परिवार की ।
पारस्परिक सौहार्द अपना अन्यथा अश्रान्त था,
हाँ, सु-"वसुधैव कुटुम्बकम्," सिद्धान्त यह एकान्त था ॥२८१॥

व्यभिचार

व्यभिचार ऐसा बढ़ रहा है, देख लो, चाहे जहाँ;
जैसा शहर, अनुरूप उसके एक 'चकला' है वहाँ !
जाकर जहाँ हम धर्म्म-धन खोते सदैव सहर्ष हैं,
होते पतित, कङ्गाल, रोगी सैकड़ों प्रतिवर्ष हैं ॥२८२॥

वह कौन धन है, दुर्व्यसन में हम जिसे खोते नहीं ?
उत्सव हमारे वारवधुओं के विना होते नहीं !
सर्वत्र डौंड़ी पिट रही है अब उन्हीं के नाम की,
मानों अधिष्ठात्री वही हैं अब यहाँ शुभ-काम की !! ॥२८३॥

था शेष लिखने के लिए क्या इस अभागे को यही ?
भगवान् ! भारतवर्ष की कैसी अधोगति हो रही !
यदि अन्त हो जाता हमारा त्यागते ही शील के,
तो आज टीके तो न लगते आर्य्यकुल को नील के ॥२८४॥

हा ! वे तपोधन ऋषि कहाँ, सन्तान हम उनकी कहाँ ?
थी पुण्यभूमि प्रसिद्ध जो हा ! आज ऐसा अघ वहाँ !
बस दीप से कज्जल सदृश निज पूर्वजों से हम हुए,
वे लोक में आलोक थे पर हम निविड़तर तम हुए !! ॥२८५॥

आडम्बर

यद्यपि उड़ा बैठे कमाई बाप-दादों की सभी,
पर ऐंठ वह अपनी भला हम छोड़ सकते हैं कभी !
भूषण बिकें, ऋण भी बढ़े, पर धन्य सब कोई कहे;
होली जले भीतर न क्यों, बाहर दिवाली ही रहे !!! ॥२८६॥

गुण, ज्ञान, गौरव, मान, धन यद्यपि सभी कुछ खो चुके,
गजभुक्त शून्य कपित्थ-सम निःसार अब हम हो चुके।
पर हैं दबाते दीनता श्वेताम्बरों में भूल से !
सम्भव कभी है अग्नि को भी दाब रखना तूल से ? ॥२८७॥

दबती कहीं आडम्बरों से बहुत दिन तक दीनता ?
मिलता नहीं फिर क़र्ज़ भी, होती यहाँ तक हीनता !
उद्योग तो हम क्या करेंगे जो अपव्यय कर रहे,
पर हाँ, हमारे हाथ से हैं दीन-दुर्बल मर रहे ॥२८८॥

अब आय तो है घट गई, पर व्यय हमारा बढ़ गया,
तिस पर विदेशी सभ्यता का भूत हम पर चढ़ गया।
ऋण-भार दिन दिन बढ़ रहा है दब रहे हैं हम यहाँ,
देना जिन्हें हो, 'कुछ नहीं' भी पास उनके है कहाँ ? ॥२८९॥

मतिभ्रंश

निज पूर्वजों का हास्य करना है हमारा खेल-सा,
लगता हृदय में मेल हमको अति भयङ्कर शेल-सा।
कोई कहे हित की उसे हम शत्रु समझेंगे वहीं,
मधु मय अपथ्य अभीष्ट है, कटु पथ्य हमको प्रिय नहीं ॥२९०॥

रहते गुणों से तो सदा हम लोग कोसों दूर हैं,
पर लोक में अपनी प्रशंसा चाहते भरपूर हैं !
हम तेल ढुलका कर दिये को हैं जलाना चाहते,
काटे हुए तरु में मनोहर फल फलाना चाहते !॥२९१॥

गुणों की स्थिति

बस भाग्य की ही भावना में रह गया उद्योग है,
आजीविका है नौकरी में, इन्द्रियों में भोग है।
परतन्त्रता में अभयता, भय राज-दण्ड-विधान में,
व्यवसाय है बैरिस्टरी या डाक्टरी दूकान में!॥२९२॥

है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल-छद्म में,
पाण्डित्य पर-निन्दा-विषय में, शूरता है सद्म में!
बस मौन में गम्भीरता है, है बड़प्पन वेश में,
जो बात और कहीं नहीं वह है हमारे देश में!॥२९३॥

कारीगरी है शेष अब साक्षी बनाने में यहाँ,
है सत्य या विश्वास केवल क़सम खाने में यहाँ।
है धैर्य्य तर्क-वितर्क में, अभियोग में ही तत्त्व है!
अवशिष्ट दारोगागरी में सत्त्व और महत्त्व है!॥२९४॥

निज अर्थ-साधन में हमारी रह गई अब भक्ति है,
है कर्म्म बस दासत्व में, अब स्वर्ण में ही शक्ति है।
गौरव जताने में यहाँ उत्साह का लगता पता,
बस वाद में है वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता॥२९५॥

निज धर्म्म के बलिदान ही में आज यज्ञ-विधान है,
है ज्ञान नास्तिक-भाव में, अब नींद में ही ध्यान है।
है योग पाशव-वृत्ति में ही, हाय! कैसी व्याधि है,
बस मृत्यु में ही रह गई अब भारतीय समाधि है!॥२९६॥

स्वाधीनता निज धर्म्म-बन्धन तोड़ देने में रही,
आस्वाद आमिष में, सुरा में सरलता जाती कही !
सङ्गीत विषयालाप में, पर-दुःख में परिहास है,
अश्लील वर्णन मात्र में ही अब कवित्व-निवास है ! ॥२९७॥

बहु वर्ण रूप उपाधियों में रह गया अब मान है;
बहुधा अपव्यय में यहाँ अब दीख पड़ता दान है।
बस व्यसन और विवाह में अवशिष्ट अब औदार्य्य है
हा दैव ! हिन्दू जाति का क्या अन्त अब अनिवार्य्य है॥२९८॥

है शील प्रायः पूर्वजों में, एकता अभिधान में,
उपकार-जन्य कृतज्ञता है धन्यवाद-प्रदान में।
पोशाक में शुचिता रही, बस क्रोध में ही कान्ति है,
अति दीनता में नम्रता है. स्वप्न में सुख-शान्ति है ! ॥२९९॥

दुर्गुण

अब है यहाँ क्या ? दम्भ है, दौर्बल्य है, दृढ़-द्रोह है,
आलस्य, ईर्ष्या, द्वेष है, मालिन्य है, मद, मोह है।
है और क्या ? दुर्बल जनों का सब तरह सिर काटना,
पर साथ ही बलवान का है श्वान-सम पग चाटना ॥३००॥

अपने लिए यदि दूसरों को दुःख देना धर्म्म हो,
यदि ईश-नियमों का निरादर न्याय से सत्कर्म हो।
निश्चेष्ट होकर बैठने में हो न पुण्यों की कमी—
तो मुक्ति के भागी हमीं हैं, मुक्ति के भागी हमीं ! ॥३०१॥

अभाव

कर हैं हमारे किन्तु अब कर्तृत्व हममें है नहीं,
हैं भारतीय परन्तु हम बनते विदेशी सब कहीं !
रखते हृदय हैं किन्तु हम रखते न सहृदयता वहाँ,
हम हैं मनुज पर हाय ! अब मनुजत्व हममें है कहाँ ? ॥२०२॥

मन में नहीं है बल हमारे, तेज चेष्टा में नहीं,
उद्योग में साहस नहीं, अपमान में न घृणा कहीं।
दासत्व में न यहाँ अरुचि है, प्रेम में प्रियता नहीं;
हा अन्त में आशा कहाँ ? कर्तव्य में क्रियता नहीं !॥ २०३ ॥

उत्साह उन्नति का नहीं है, खेद अवनति का नहीं,
है स्वल्प-सा भी ध्यान हमको समय की गति का नहीं।
हम भीरुता के भक्त हैं, अति विदित विषयासक्त हैं,
श्रम से सदैव विरक्त हैं, आलस्य में अनुरक्त हैं॥ २०४ ॥

विकृति

हिन्दू-समाज सभी गुणों से आज कैसा हीन है,
वह क्षीण और मलीन है, आलस्य में ही लीन है।
परतन्त्र पद पद पर विपद में पड़ रहा वह दीन है,
जीवन-मरण उसका यहाँ अब एक दैवाधीन है॥ २०५ ॥

हा ! आर्य्य-सन्तति आज कैसी अन्ध और अशक्त है,
पानी हुआ क्या अब हमारी नाड़ियों का रक्त है ?
संसार में हमने किया बस एक ही यह काम है—
निज पूर्वजों का सब तरह हमने डुबोया नाम है !॥ २०६ ॥

दु:शीलता दासी हमारी, मूर्खता महिषी सदा,
है स्वार्थ सिंहासन हमारा मोह मन्त्री सर्वदा ।
यों पाप-पुर में राज-पद हा ! कौन पाना चाहता ?
चढ़ कर गधे पर कौन जन वैकुण्ठ जाना चाहता ? ।। ३०७ ।।

भारत ! तुम्हारा आज यह कैसा भयङ्कर वेष है ?
है और सब निःशेष केवल नाम ही अब शेष है !
ब्रह्मत्व, राजन्यत्व युत वैश्यत्व भी सब नष्ट है,
शूद्रत्व और पशुत्व ही अवशिष्ट है, हा ! कष्ट है । ३०८ ।।

हा दीनबन्धो ! क्या हमारा नाम ही मिट जायगा,
अब फिर कृपा-कण भी न क्या भारत तुम्हारा पायगा ?
हा राम ! हा ! हा कृष्ण ! हा ! हा नाथ ! हा ! रक्षा करो;
मनुजत्व दो हमको दयामय ! दुःख-दुर्बलता हरो ।। ३०९ ।।

श्रीहरिः

भविष्यत् खण्ड

उद्बोधन

हतभाग्य हिन्दू-जाति ! तेरा पूर्वदर्शन है कहाँ ?
वह शील, शुद्धाचार, वैभव देख, अब क्या है यहाँ ?
क्या जान पड़ता वह कथा अब स्वप्न की-सी है नहीं ?
हम हों वही, पर पूर्व-दर्शन दृष्टि आते हैं कहीं ? ॥ १ ॥

बीतीं अनेक शताब्दियाँ पर हाय ! तू जागी नहीं;
यह कुम्भकर्णी नींद तू ने तनिक भी त्यागी नहीं !
देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें—
आँसू बहावें शोक से, इस वेष में पाकर हमें ! ! ॥ २ ॥

अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के,
सब जग जगाता है तुझे, जग कर स्वयं जय बोल के ।
निःशक्त यद्यपि हो चुकी है किन्तु तू न मरी अभी,
अब भी पुनर्जीवन-प्रदायक साज हैं सम्मुख सभी ॥ ३ ॥

हम कौन थे, क्या होगये हैं, जान लो इसका पता,
जो थे कभी गुरु, है न उनमें शिष्य की भी योग्यता !
जो थे सभी से अग्रगामी, आज पीछे भी नहीं,
है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं ? ॥ ४ ॥

दुर्दैव-पीड़ित जो पुराने चिन्ह कुछ कुछ रह गये,
देखो, न जाने भाव कितने व्यक्त करते हैं नये।
हा! क्या कहें आरम्भ ही में रुँध रहा है जब गला,
भगवान्! क्या से क्या हुए हम, कुछ ठिकाना है भला!॥५॥

कुछ काल में ये जीर्ण पहले चिन्ह भी मिट जायँगे,
फिर खोजने से भी न हम सब मार्ग अपना पायँगे।
जातीय जीवन-दीप अब भी स्नेह पावेगा नहीं,
तो फिर अँधेरे में हमें कुछ हाथ आवेगा नहीं॥ ६॥

अब भी सुधारेंगे न हम दुर्दैव-वश अपनी दशा,
तो नाम शेष हमें करेगा काल ले कर्कश कशा!
बस टिमटिमाता दीख पड़ता आज जीवन-दीप है,
हा दैव! क्या रक्षा न होगी, सर्वनाश समीप है?॥ ७॥

निज पूर्वजों का वह अलौकिक सत्य, शील निहारलो,
फिर ध्यान से अपनी दशा भी एक बार विचारलो।
जो आज अपने आपको यों भूल हम जाते नहीं,
तो यों कभी सन्ताप-मूलक शूल हम पाते नहीं॥ ८॥

निज पूर्वजों के सद्गुणों को यत्न से मन में धरो,
सब आत्म-परिभव-भाव तज निज रूप का चिन्तन करो।
निज पूर्वजों के सद्गुणों का गर्व जो रखती नहीं,
वह जाति जीवित जातियों में रह नहीं सकती कहीं॥ ९॥

किस भाँति जीना चाहिए, किस भाँति मरना चाहिए;
सो सब हमें निज पूर्वजों से याद करना चाहिए।
पद-चिन्ह उनके यत्न-पूर्वक खोज लेना चाहिए,
निज पूर्व-गौरव-दीप को बुझने न देना चाहिए ॥१०॥

हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं—
संसार में किस जाति को, किस ठौर वैसे प्राप्त हैं ?
भव-सिन्धु में निज पूर्वजों की रीति से ही हम तरें,
यदि हो सकें वैसे न हम तो अनुकरण तो भी करें ॥११॥

क्या कार्य्य दुष्कर है भला यदि इष्ट हो हमको कहीं ?
उस सृष्टि-कर्त्ता ईश का ईशत्व क्या हममें नहीं ?
यदि हम किसी भी कार्य्य को करते हुए असमर्थ हैं-
तो उस अखिल-कर्त्ता पिता के पुत्र ही हम व्यर्थ हैं ॥१२॥

अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं ?
क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं ?
क्या हम सभी मानव नहीं किं वा हमारे कर नहीं ?
यो भी उठें हम तो बने क्या अन्य रत्नाकर नहीं ? ॥१३॥

हे भाइयो ! सोये बहुत, अब तो उठो, जागो, अहो !
देखो ज़रा अपनी दशा, आलस्य को त्यागो अहो !
कुछ पार है, क्या क्या समय के उलट फेर न हो चुके !
अब भी सजग होगे न क्या ? सर्वस्व तो हो खो चुके ॥१४॥

विष-पूर्ण ईर्ष्या-द्वेष पहले शीघ्रता से छोड़ दो,
घर फूँकने वाली फुटैली फूट का सिर फोड़ दो।
मालिन्य से मुँह मोड़ कर मद-मोह के पद तोड़ दो,
टूटे हुए वे प्रेम-बन्धन फिर परस्पर जोड़ दो ॥१५॥

भागो अलग अविचार से, त्यागो कुसङ्ग कुरीति का;
आगे बढ़ो निर्भीकता से, काम है क्या भीति का।
चिन्ता न विघ्नों की करो, पाणिग्रहण कर नीति का—
सुर-तुल्य अजरामर बनो, पीयूष पीकर प्रीति का ॥१६॥

संसार की समरस्थली में धीरता धारण करो,
चलते हुए निज इष्ट-पथ में सङ्कटों से मत डरो।
जीते हुए भी मृतक-सम रह कर न केवल दिन भरो,
वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न-बाधाएँ हरो ॥१७॥

है ज्ञात क्या तुमको नहीं तुम लोग तीस करोड़ हो,
यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो?
उत्साह-जल से सींच कर हित का अखाड़ा गोड़ दो,
गर्दन अमित्र अधःपतन की ताल ठोंक मरोड़ दो ॥१८॥

बैठे हुए हो व्यर्थ क्यों? आगे बढ़ो, ऊँचे चढ़ो;
है भाग्य की क्या भावना? अब पाठ पौरुष का पढ़ो।
है सामने का ग्रास भी मुख में स्वयं जाता नहीं!
हा! ध्यान उद्यम का तुम्हें तो भी कभी आता नहीं! ॥१९॥

जो लोग पीछे थे तुम्हारे, बढ़ गये, हैं बढ़ रहे,
पीछे पड़े तुम दैव के सिर दोष अपना मढ़ रहे !
पर कर्म्म-तैल विना कभी विधि-दीप जल सकता नहीं,
है दैव क्या ? साँचे विना कुछ आप ढल सकता नहीं ॥२०॥

आओ, मिलें सब देश-बान्धव हार बन कर देश के,
साधक बनें सब प्रेम से सुख-शान्तिमय उद्देश के।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो !
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ? ॥२१॥

रक्खो परस्पर मेल मन से छोड़ कर अविवेकता,
मन का मिलन ही मिलन है, होती उसीसे एकता।
तन मात्र के ही मेल से है मन भला मिलता कहीं,
है बाह्य बातों से कभी अन्तःकरण खिलता नहीं ॥२२॥

सब ठौर और विरोध का बल-बोध से वारण करो,
है भिन्नता में खिन्नता ही, एकता धारण करो।
है एकता ही मुक्ति ईश्वर-जीव के सम्बन्ध में,
वर्योकता ही अर्थ देती इस निकृष्ट निबन्ध में ॥२३॥

है कार्य्य ऐसा कौन-सा साधे न जिसको एकता ?
देती नहीं अद्भुत अलौकिक शक्ति किसको एकता ?
दो एक एकादश हुए, किसने नहीं देखे सुने ?
हाँ, शून्य के भी योग से हैं अङ्क होते दश गुने ॥२४॥

प्रत्येक जन प्रत्येक जन को बन्धु अपना जान लो,
सुख-दुःख अपने बन्धुओं का आप अपना मान लो।
सब दुःख यों बँट कर घटेगा सौख्य पावेंगे सभी,
हाँ, शोक में भी सान्त्वना के गीत गावेंगे सभी ॥ २५ ॥

साहाय्य दे सकते मनुज को मनुज ही, खग-मृग नहीं,
वे भी न दें तो सब मनुजता व्यर्थ है उनकी वहीं,
निज बन्धुओं की ही न हम यदि पा सके प्रियता यहाँ—
तो उस महाप्रभु की कृपा-प्रियता हमें रक्खी कहाँ ? ॥ २६ ॥

अपने सहायक आप हो, होगा सहायक प्रभु तभी;
बस चाहने से ही किसी को सुख नहीं मिलता कभी।
कर, पद, हृदय, दृग, कर्ण तुमको ईश ने सब कुछ दिया,
है कौन ऐसा काम जो तुमसे न जा सकता किया ? ॥ २७ ॥

आने न दो अपने निकट औदास्य मय उत्ताप को,
आत्मावलम्बी हो, न समझो तुच्छ अपने आपको।
है भिन्न परमात्मा तुम्हारे अमर आत्मा से नहीं,
एकत्व वारि-तरङ्ग का भी भङ्ग हो सकता कहीं ? ॥ २८ ॥

अति धीरता के साथ अपने कार्य्य में तत्पर रहो,
आपत्तियों के वार सारे वीर वर बन कर सहो।
सब विघ्न-भय मिट जायँगे, होगी सफलता अन्त में,
फिर कीर्ति फैलेगी हमारी एक वार दिगन्त में ॥ २९ ॥

बढ़ कर लता, द्रुम, गुल्म भी हैं फूलते फलते यहाँ,
तो भी समुन्नति-मार्ग में हम लोग चलते हैं कहाँ ?
घन घूम कर ही गरजते हैं, बरसते हैं सब कहीं,
हम किन्तु निष्क्रिय हैं तभी तो तरसते हैं सब कहीं ॥३०॥

जड़ दीप तो देकर हमें आलोक जलता आप है,
पर एक हममें दूसरे को दे रहा सन्ताप है !
क्या हम जड़ों से भी जगत में हैं गये बीते नहीं ?
हे भाइयो ! इस भाँति तो तुम थे कभी जीते नहीं ॥ ३१ ॥

सोचो कि जीने से हमारे लाभ होता है किसे ?
है कौन, मरने से हमारे हानि पहुँचेगी जिसे ?
होकर न होने के बराबर हो रहे हैं हम यहाँ,
दुर्लभ मनुज-जीवन वृथा हो खो रहे हैं हम यहाँ ! ॥३२॥

हो आप, और सभी जनों को नित्य उत्साहित करो,
उत्पन्न तुम जिसमें हुए, निज देश का कुछ हित करो।
नर-जन्म पाकर लोक में कुछ काम करना चाहिये,
अपना नहीं तो पूर्वजों का नाम करना चाहिये ॥३३॥

अनुदारता-दर्शक हमारे दूर सब अविवेक हों;
जितने अधिक हों तन भले हैं, मन हमारे एक हों।
आचार में कुछ भेद हो पर प्रेम हो व्यवहार में,
देखें, हमें फिर कौन सुख मिलता नहीं संसार में ? ॥३४॥

हमको समय को देखकर ही नित्य चलना चाहिए,
बदले हवा जब जिस तरह हमको बदलना चाहिए।
विपरीत विश्व-प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं,
अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं ॥३५॥

व्यवसाय अपने व्यर्थ हैं अब नव्य यन्त्रों के विना,
परतन्त्र हैं हम सब कहीं अब भव्य यन्त्रों के विना।
कल के हलों के सामने अब पूर्व का हल व्यर्थ है,
उस वाष्प विद्युद्वेग-सम्मुख देह का बल व्यर्थ है ॥३६॥

है बदलता रहता समय उसकी सभी घातें नई,
कल काम में आती नहीं हैं आज की बातें कई!
है सिद्धि-मूल यही कि जब जैसा प्रकृति का रङ्ग हो—
तब ठीक वैसा ही हमारी कार्य्य-कृति का ढङ्ग हो ॥३७॥

प्राचीन हों कि नवीन छोड़ो रूढ़ियाँ जो हों बुरी,
बन कर विवेकी तुम दिखाओ हंस-जैसी चातुरी।
'प्राचीन बातें ही भली हैं'—यह विचार अलीक है,
जैसी अवस्था हो जहाँ वैसी व्यवस्था ठीक है ॥३८॥

सर्वत्र एक अपूर्व युग का हो रहा सञ्चार है,
देखो, दिनोंदिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है।
अब तो उठो, क्या पड़ रहे हो व्यर्थ सोच विचार में?
सुख दूर, जीना भी कठिन है श्रम विना संसार में ॥३९॥

पृथ्वी, पवन, नभ, जल, अनल सब लग रहे हैं काम में,
फिर क्यों तुम्हीं खोते समय हो व्यर्थ के विश्राम में ?
बीते हज़ारों वर्ष तुमको नींद में सोते हुए,
बैठे रहोगे और कब तक भाग्य को रोते हुए ? ॥४०॥

इस नींद में क्या क्या हुआ, यह भी तुम्हें कुछ ज्ञात है ?
कितनी यहाँ लूटें हुईं, कितना हुआ अपघात है !
होकर न टस से मस रहे तुम एक ही करवट लिये,
निज दुर्दशा के दृश्य सारे स्वप्न-सम देखा किये ! ॥४१॥

इस नींद में ही तो यवन आकर यहाँ आदृत हुए,
जागे न हा ! स्वातन्त्र्य खोकर अन्त में तुम धृत हुए।
इस नींद में ही सब तुम्हारे पूर्व-गौरव हृत हुए,
अब और कब तक इस तरह सोते रहोगे मृत हुए ? ॥४२॥

उत्तप्त ऊष्मा के अनन्तर दीख पड़ती वृष्टि है,
बदली न किन्तु दशा तुम्हारी नित्य शनि की दृष्टि है !
है घूमता फिरता समय तुम किन्तु ज्यों के त्यों पड़े,
फिर भी अभी तक जी रहे हो, वीर हो निश्चय बड़े ! ॥४३॥

पशु और पक्षी आदि भी अपना हिताहित जानते,
पर हाय ! क्या तुम अब उसे भी हो नहीं पहचानते ?
निश्चेष्टता मानों हमारी नष्टता की दृष्टि है,
होती प्रलय के पूर्व जैसे स्तब्ध सारी सृष्टि है ॥ ४४ ॥

सोचो विचारो, तुम कहाँ हो, समय की गति है कहाँ,
वे दिन तुम्हारे आप ही क्या लौट आवेंगे यहाँ ?

ज्यों ज्यों करेंगे देर हम वे और बढ़ते जायँगे,
यदि बढ़ गये वे और तो फिर हम न उनको पायँगे ॥४५॥

करके उपेक्षा निज समय को छोड़ बैठे हो तुम्हीं,
दुष्कर्म करके भाग्य को भी फोड़ बैठे हो तुम्हीं।
बैठे रहोगे हाय ! कब तक और यों ही तुम कहो ?
अपनी नहीं तो पूर्वजों की लाज तो रक्खो अहो ! ॥४६॥

लो भाग अपना शीघ्र ही कर्त्तव्य के मैदान में,
हो बद्धपरिकर दो सहारा देश के उत्थान में।
डूबे न देखो नाव अपनी है पड़ी मँझधार में,
होगा सहायक कर्म्म का पतवार ही उद्धार में ॥ ४७ ॥

भूलो न ऋषि-सन्तान हो, अब भी तुम्हें यदि ध्यान हो—
तो विश्व को फिर भी तुम्हारी शक्ति का कुछ ज्ञान हो।
बन कर अहो ! फिर कर्म्म योगी वीर बड़भागी बनो,
परमार्थ के पीछे जगत में स्वार्थ के त्यागी बनो ॥४८॥

होकर निराश कभी न बैठो, नित्य उद्योगी रहो;
सब देश-हितकर कार्य्यों में अन्योन्य सहयोगी रहो।
धर्म्मार्थ के भोगी रहो बस कर्म्म के योगी रहो,
रोगी रहो तो प्रेमरूपी रोग के रोगी रहो ॥४९॥

पुरुषत्व दिखलाओ पुरुष हो, बुद्धि-बल से काम लो,
तब तक न थक कर तुम कभी अवकाश या विश्राम लो—
जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो,
फिर ज्ञान में, विज्ञान में, जब तक न वह स्वाधीन हो ॥५०॥

निज धर्म्म का पालन करो, चारों फलों की प्राप्ति हो,
दुख-दाह, आधि-व्याधि सबकी एक साथ समाप्ति हो।
ऊपर कि नीचे एक भी सुर है नहीं ऐसा कहीं—
सत्कर्म्म में रत देख तुमको जो सहायक हो नहीं ॥५१॥

देखो, तुम्हें पूर्वज तुम्हारे देखते हैं स्वर्ग से,
करते रहे जो लोक का हित उच्च आत्मोत्सर्ग से।
है दुख उन्हें अब स्वर्ग में भी पतित देख तुम्हें अरे !
सन्तान हो क्या तुम उन्हीं की राम ! राम ! हरे ! हरे !!! ॥५२॥

अब तो विदा कर दुर्गुणों को सद्गुणों को स्थान दो,
खोया समय यों ही बहुत अब तो उसे सम्मान दो।
चिरकाल तिमिरावृत रहे आलोक का भी स्वाद लो,
हो योग्य सन्तति, पूर्वजों से दिव्य आशीर्वाद लो ॥५३॥

जग को दिखा दो यह कि अब भी हम सजीव, सशक्त हैं,
रखते अभी तक नाड़ियों में पूर्वजों का रक्त हैं।
ऐसा नहीं कि मनुष्यरूपी और कोई जन्तु हैं,
अब भी हमारे मस्तकों में ज्ञान के कुछ तन्तु हैं ॥५४॥

अब भी सँभल जावें कहीं हम, सुलभ हैं सब साज भी
बनना, बिगड़ना है हमारे हाथ अपना आज भी।
यूनान मिश्रादिक मिटे हैं किन्तु हम अब भी बनें,
यद्यपि हमारे मेटने को ठाठ कितने ही ठनें ॥५५॥

हे आर्य्य-सन्तानो ! उठो, अवसर निकल जावे नहीं,
देखो, बड़ों की बात जग में बिगड़ने पावे नहीं।

जग जान ले कि न आर्य्य केवल नाम के ही आर्य्य हैं,
वे नाम के अनुरूप ही करते सदा शुभ कार्य्य हैं ॥५६॥

ऐसा करो जिसमें तुम्हारे देश का उद्धार हो,
जर्जर तुम्हारी जाति का बेड़ा विपद से पार हो।
ऐसा न हो जो अन्त में चर्चा करें ऐसी सभी—
थी एक 'हिन्दू' नाम की भी निन्द्य जाति यहाँ कभी ॥५७॥

समझो न भारत-भक्ति केवल भूमि के ही प्रेम को,
चाहो सदा निज देशवासी बन्धुओं के क्षेम को।
यों सभी जड़ जन्तु भी स्वस्थान के अति भक्त हैं;
कृमि, कीट, खग, मृग, मीन भी हमसे अधिक अनुरक्त हैं ॥५८॥

लाखों हमारे दीन:दुखी बन्धु भूखों मर रहे,
पर हम व्यसन में डूब कर कितना अपव्यय कर रहे!
क्या देश-वत्सलता यही है? क्या यही सत्कार्य्य है?
क्या लक्ष्य जीवन का यही है? क्या यही औदार्य्य? ॥५९॥

मुख से न होकर चित्त से देशानुरागी हो सदा,
हैं सब स्वदेशी बन्धु, उनके दुःखभागी हो सदा।
दे कर उन्हें साहाय्य भरसक सब विपत्ति-व्यथा हरो,
निज दुःख से ही दूसरों के दुःख का अनुभव करो ॥६०॥

अन्तःकरण उज्वल करो औदार्य्य के आलोक से,
निर्म्मल बनो सन्तप्त होकर दूसरों के शोक से।
आत्मा तुम्हारा और सब का एक निरवच्छेद है,
कुछ भेद बाहर क्यों न हो, भीतर भला क्या भेद है? ॥६१

सब से बड़ा गौरव यही तो है हमारे ज्ञान का—
जानें चराचर विश्व को हम रूप उस भगवान का।
ईशस्थ सारी सृष्टि हममें और हम सब सृष्टि में,
है दर्शनों में दृष्टि जैसे और दर्शन दृष्टि में ॥६२॥

सब से हमारे धर्म्म का ऊँचा यही तो लक्ष है,
होती असीम अनेकता में एकता प्रत्यक्ष है।
मति की चरमता या परमता है वही अविभिन्नता,
बस छा रही सर्वत्र प्रभु की एक निरवच्छिन्नता ॥६३॥

भगवान कहते हैं स्वयं हो, भेद भावों को तजे,
है रूप मेरा हो मुझे जो सर्व भूतों में भजे।
जो जानता सब में मुझे, सबको मुझी में जानता;
है मानता मुझको वही, मैं भी उसी को मानता१ ॥६४॥

हे भाइयो! भगवान के आदेश का पालन करो,
अनुदार भाव-कलङ्क-रूपी पङ्क-प्रक्षालन करो।
नवनीत-तुल्य दयार्द्र हो सब भाइयों के ताप में,
सबमें समझ कर आपको, सबको समझ लो आपमें ॥६५॥

१—इस पद्य की रचना श्रीमद्भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर की गई है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥

बस मर्म स्वार्थ-त्याग ही तो है हमारे धर्म्म का,
है ईश्वरार्पण सर्वदा सब फल हमारे कर्म्म का।
निष्काम होना ही हमारा निरुपमेय महत्व है,
प्रभु का स्वयं श्रीमुख-कथित गीता-ग्रथित यह तत्त्व है ॥६६॥

इतिहास है, हम पूर्व में स्वार्थी कभी होते न थे;
सुख-बीज हम अपने लिए ही विश्व में बोते न थे।
तब तो हमारे अर्थ यह संसार ही सुख-स्वर्ग था,
मानों हमारे हाथ पर रक्खा हुआ अपवर्ग था ॥ ६७ ॥

हम पर-हितार्थ सहर्ष अपने प्राण भी देते रहे,
हाँ, लोक के उपकार-हित ही जन्म हम लेते रहे।
सुर भी परीक्षक हैं हमारे धर्म्म के अनुराग के,
इतिहास और पुराण हैं साक्षी हमारे त्याग के ॥६८॥

हैं जानते यह तत्व जो जन आज भी वे मान्य हैं,
चाहे विना ही पा रहे वे सब कहीं प्राधान्य हैं।
जग में न उनको प्राप्त हो जो कौन ऐसी सिद्धि है ?
उनके पदों पर लोटती सब ऋद्धियों की वृद्धि है ॥६९॥

करते उपेक्षा यदि न हम उस उच्चतम उद्देश की,
तो आज यह अवनति नहीं होती हमारे देश की।
यदि इस समय भी सजग हों तो भी हमारा भाग्य है,
पर कर्म्म के तो नाम से ही अब हमें वैराग्य है ! ॥७०॥

सच्चे प्रयत्न कभी हमारे व्यर्थ हो सकते नहीं,
संसार भर के विघ्न भी उनको डुबो सकते नहीं !

वे तत्वदर्शी ऋषि हमारे कह रहे हैं यह कथा—
"सत्यप्रतिष्ठायां क्रिया (सु) फलाश्रयत्वं" सर्वथा ॥ ७१ ॥
आओ, बनें शुभ साधना के आज से साधक सभी,
निज धर्म्म की रक्षा करें, जीवन सफल होगा तभी।
संसार अब देखे कि यदि हम आज हैं पिछड़े पड़े—
तो कल बराबर और परसों विश्व के आगे खड़े ॥ ७२ ॥
ब्राह्मण बढ़ावें बोध को, क्षत्रिय बढ़ावें शक्ति को;
सब वैश्य निज वाणिज्य को, त्यों शूद्र भी अनुरक्ति को।
यों एक मन होकर सभी कर्तव्य के पालक बनें—
तो क्या न कीर्ति-वितान चारों ओर भारत के तनें ? ॥ ७३॥

ब्राह्मण

हे ब्राह्मणो ! फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो,
भूलो न अनुपम आत्म-गौरव, धर्म्म के ध्यानी बनो।
कर दो चकित फिर विश्व को अपने पवित्र प्रकाश से,
मिट जायँ फिर सब तम तुम्हारे देश के आकाश से ॥ ७४ ॥
प्रत्यक्ष था महात्व तुममें यदि उसे खोते नहीं—
तो आज यों सर्वत्र तुम लाञ्छित कभी होते नहीं।
यह द्वार द्वार न भीख तुमको माँगनी पड़ती कभी,
भू पर तुम्हें सुर जान कर थे मानते मानव सभी ॥ ७५ ॥

क्षत्रिय

हे क्षत्रियो ! सोचो तनिक, तुम आज कैसे हो रहे;
हम क्या कहें, कह दो तुम्हीं, तुम आज जैसे हो रहे।
स्वाधीनता सारी तुम्हीं ने है न खोई देश की ?
बन कर विलासी, विग्रही नैया डुबोई देश की ! ॥ ७६ ॥

निज दुर्दशा पर आज भी क्यों ध्यान तुम देते नहीं ?
अत्यन्त ऊँचे से गिरे हा ! किन्तु तुम चेते नहीं !
अब भी न आँखें खोल कर क्या तुम बिलोकोगे कहो ?
अब भी कुपथ की ओर से मन को न रोकोगे कहो ? ॥ ७७ ॥
वीरो ! उठो, अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो,
निज देश को जीवन सहित तन, मन तथा धन भेट दो ।
रघु, राम, भीष्म तथा युधिष्ठिर-सम न हो जो ओज से—
तो वीर विक्रम-से बनो, विद्यानुरागी भोज-से ॥ ७८ ॥

वैश्य

वैश्यो ! सुनो, व्यापार सारा मिट चुका है देश का,
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?
अब भी न यदि कर्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ—
तो पास हैं वे दिन कि जब भूखों मरोगे तुम यहाँ ! ॥ ७९ ॥
अब तो उठो, हे बन्धुओ ! निज देश की जय बोल दो;
बनने लगें सब वस्तुएँ, कल-कारखाने खोल दो ।
जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं—
हो 'मेडइन' के बाद बस अब 'इंडिया' ही सब कहीं ॥ ८० ॥
है आज भी रत्न-प्रसू वसुधा यहाँ की-सी कहाँ ?
पर लाभ उससे अब उठाते हैं विदेशी ही यहाँ !
उद्योग घर में भी अहो ! हमसे किया जाता नहीं,
हम छाल-छिलके चूसते हैं, रस पिया जाता नहीं ! ! ॥ ८१ ॥

शूद्र

शूद्रो ! उठो, तुम भी कि भारत-भूमि डूबी जा रही,
है योगियों को भी अगम जो व्रत तुम्हारा है वही ।

जो मातृ-सेवक हो वही सुत श्रेष्ठ जाता है गिना,
कोई बड़ा बनता नहीं लघु और नम्र हुए विना ॥८२॥

रक्खो न व्यर्थ घृणा कभी निज वर्ण से या नाम से,
मत नीच समझो आपको, ऊँचे बनो कुछ काम से ।
उत्पन्न हो तुम प्रभु-पदों से जो सभी को ध्येय हैं,
तुम हो सहोदर सुरसरी के चरित जिसके गेय हैं ॥८३॥

साधु-सन्त

सन्तो ! महन्तो ! स्वमियो ! गौरव तुम्हारा ज्ञान है,
पर क्या कभी इस बात पर जाता तुम्हारा ध्यान है ?
यह वेश चाहे सुगम हो, आवेश अति दुर्गम्य है;
सौरभ-रहित है जो सुमन वह रूप में क्या रम्य है ? ॥८४॥

हे साधुओ ! सोये बहुत अब ईश्वराराधन करो,
उपदेश-द्वारा देश का कल्याण कुछ साधन करो ।
डूबे रहोगे और कब तक हाय ! तुम अज्ञान में ?
चाहो तुम्हीं तो देश की काया पलट दो आन में ॥ ८५ ॥

थे साधु तुलसीदास, नानक, रामदास समर्थ भी,
व्यवहृत यही पद हो रहा है आज उनके अर्थ भी ।
पर वे न होकर भी यहाँ उपकार सबका कर रहे,
सद्भाव उनके ग्रन्थ सबके मानसों में भर रहे ॥८६॥

कुछ वेश की भी लाज रक्खो, अज्ञता का अन्त हो;
भर कर न केवल उदर ही तुम लोग सच्चे सन्त हो ।
बाधा मिटा दो शीघ्र मन से इन्द्रियों के रोग की,
फैले चमत्कृति फिर यहाँ पर सिद्धि-मूलक योग की ॥८७॥

तीर्थगुरु

हे तीर्थगुरुओ ! सोच लो, कैसा तुम्हारा नाम है,
यजमान का उद्धार करना ही तुम्हारा काम है ।
पर आज आत्म-सुधार के भी दीखते लक्षण कहाँ ?
चेतो, उठो, फिर तुम हमारे कर्णधार बनो यहाँ ॥८८॥

शिक्षित

हे शिक्षितो ! कुछ कर दिखाओ, ज्ञान का फल है यही,
हो दूसरों को लाभ जिससे श्रेष्ठ विद्या है वही ।
संख्या तुम्हारी अल्प है, उसको बढ़ाओ शीघ्र ही,
नीचे पड़े हैं जो उन्हें ऊपर चढ़ाओ शीघ्र ही ॥८९॥
अपने अशिक्षित भाइयों का प्रेमपूर्वक हित करो—
उनको समुन्नति से उन्हें उत्साह-युत परिचित करो ।
ज्ञानानुभव से तुम न निज साहित्य को वञ्चित करो—
पाओ जहाँ जो बात अच्छी शीघ्र ही सञ्चित करो ॥९०॥

नेता

हे देशनेताओ ! तुम्हीं पर सब हमारा भार है—
जीते तुम्हारे जीत है, हारे तुम्हारे हार है ।
निःस्वार्थ, निर्भय भाव से निज नीति पर निश्चल रहो,
"राष्ट्रे वयं जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा" कहो ॥९१॥

कवि

करते रहोगे पिष्ट-पोषण और कब तक कविवरो !
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो ! अब तो न जीते जी मरो ।
है बन चुका शुचि अशुचि अब तो कुरुचि को छोड़ो भला,
अब तो दया कर के सुरुचि का तुम न यों घोंटो गला ॥९२॥

आनन्ददात्री शिक्षिका है सिद्ध कविता कामिनी,
है जन्म से ही वह यहाँ श्रीराम की अनुगामिनी।
पर अब तुम्हारे हाथ से वह कामिनी ही रह गई,
ज्योत्स्ना गई देखो, अँधेरी यामिनी ही रह गई ! ॥ ९३ ॥

अब तो विषय की ओर से मन की सुरति को फेर दो,
जिस ओर गति हो समय की उस ओर मति को फेर दो।
गाया बहुत कुछ राग तुमने योग और वियोग का,
सञ्चार कर दो अब यहाँ उत्साह का उद्योग का ॥ ९४ ॥

केवल मनोरञ्जन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
क्यों आज "रामचरित्रमानस" सब कहीं सम्मान्य है ?
सत्काव्य-युत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है ॥ ९५ ॥

धैर्यच्युतों को धैर्य से कवि ही मिलाना जानते,
वे ही नितान्त पराजितों को जय दिलाना जानते।
होते न पृथ्वीराज१ तो रहते प्रताप व्रती कहाँ ?

१—हिन्दू-कुलगौरव प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह ने अकबर बादशाह के विरुद्ध स्वाधीनता की रक्षा के लिये बरसों बन में रह कर, अनेकों कष्ट सहन किये थे। किन्तु एक बार कौटुम्बिक दुर्दशा पर जब उन-का हृदय विचलित होगया था, तब बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज ने अपनी ओजस्विनी कविता में उनको एक पत्र लिखा था। इसको पढ़कर महाराना फिर अपने पूर्व व्रत पर दृढ़ हो गये थे।

एथेंस कैसे जीतता होता न यदि सोलन१ वहाँ ? ॥ ९६ ॥

संसार में कविता अनेकों क्रान्तियाँ है कर चुकी,
मुरझे मनों में वेग की विद्युत्प्रभाएँ भर चुकी।
है अन्ध-सा अन्तर्जगत कवि-रूप सविता के विना,
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सु-कविता के विना ॥ ९७ ॥

मृत जाति को कवि ही जिलाते रस-सुधा के योग से,
पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से !
कवियो ! उठो, अब तो अहो ! कवि-कर्म्म की रक्षा करो,
बस नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो ॥९८॥

नवयुवक

हे नवयुवाओ ! देश भर की दृष्टि तुम पर ही लगी,
है मनुज जीवन की तुम्हीं में ज्योति सब से जगमगी।
दोगे न तुम तो कौन देगा योग देशोद्धार में ?
देखो कहाँ क्या हो रहा है आज कल संसार में ॥९९॥

१—पुराने ज़माने में ग्रीस के एथेन्स नगर वाले मेगारा वालों से वैर-भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफ़े लड़ाइयाँ हुईं। पर हर दफ़े एथेन्स वालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह चढ़ कर एथेन्सवालों को सुनाया। उस कविता का लोगों के दिलों पर इतना असर हुआ कि फ़ौरन मेगारा वालों पर फिर चढ़ाई करदी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था उसे एथेन्स वालों ने लेकर कल की। इस चढ़ाई में सोलन सेनापति ही बनाया गया था।

जो कुछ पढ़ो तुम कार्य्य में भी साथ ही परिणत करो,
सब भक्तवर प्रह्लाद की निम्नोक्ति को मन में धरो—
"कौमार में ही भागवत धर्माचरण कर लो यहाँ,
नर-जन्म दुर्लभ और वह भी अधिक रहता है कहाँ"॥१००॥

दो पथ, असंयम और संयम है तुम्हें अब सब कहीं,
पहला अशुभ है, दूसरा शुभ है, इसे भूलो नहीं।
पर मन प्रथम की ओर ही तुमको झुकावेगा अभी,
यदि तुम न सँभलोगे अभी तो फिर न सँभलोगे कभी॥१०१॥

धनी

धनियो! भला कब तक व्यसन की बान छोड़ोगे नहीं,
अब और कब तक अज्ञता की आन तोड़ोगे नहीं?
किं वा कृपण कब तक रहोगे लोभ को पाले हुए,
क्या तुच्छ धनवाले हुए तुम जो न मनवाले हुए?॥१०२॥

कमला-विलास विलोल तर चपला-प्रकाश-समान है,
धन-लाभ का साफल्य बस सत्कार्य्य विषयक दान है।
हा! देश का उपकार करना अब तुम्हें कब आयगा?
विद्या, कला-कौशल बढ़ाओ, धन स्वयं बढ़ जायगा॥१०३॥

लाखों अपव्यय हैं तुम्हारे एक तो सद्व्यय करो,
चाहो न जो तुम कीर्ति तो अपकीर्ति का तो भय करो।
क्या मातृभूमि वृथा तुम्हारी विश्व में जननी बनी?
देते करोड़ों देश-हित हैं अन्य देशों के धनी॥१०४॥

हम पुत्र तीस करोड़ जिसके देश वह दुःखी रहे;
अनुचित नहीं है फिर कहीं कोई हमें जो पशु कहे।

हे भाइयो ! है दीन देखो, मातृ-भू माता मही,
जो बन पड़े जिससे यहाँ है इस समय थोड़ा वही ॥१०५॥

शिक्षा

सब से प्रथम कर्तव्य है शिक्षा बढ़ाना देश में,
शिक्षा विना ही पड़ रहे हैं आज हम सब क्लेश में।
शिक्षा विना कोई कभी बनता नहीं सत्पात्र है,
शिक्षा विना कल्याण की आशा दुराशा मात्र है ॥१०६॥
जब तक अविद्या का अँधेरा हम मिटावेंगे नहीं,
जब तक समुज्ज्वल ज्ञान का आलोक पावेंगे नहीं।
तब तक भटकना व्यर्थ है सुखसिद्धि के सन्धान में,
पाये विना पथ पहुँच सकता कौन इष्ट स्थान में ? ॥१०७॥
वे देश जो हैं आज उन्नत और सब संसार से—
चौंका रहे हैं नित्य सबको नव नवाविष्कार से।
बस ज्ञान के सञ्चार से ही बढ़ सके हैं वे वहाँ,
विज्ञान-बल से ही गगन में चढ़ सके हैं वे वहाँ ॥१०८॥
विद्या मधुर सहकार१ करती सर्वथा कटु निम्ब को,
विद्या ग्रहण करती कलों से शब्द को, प्रतिविम्ब को !
विद्या जड़ों में भी सहज ही डालती चैतन्य है,
हीरा बनाती कोयले को, धन्य विद्या धन्य है ॥१०९॥
विद्या दिनों का पथ पलों में पार है करवा रही,
विद्या विविध वैचित्र्य के भाण्डार है भरवा रही।
गति सिद्धि उसकी हो चुकी आकाश में, पाताल में,
है वह मरों को भी जिलाना चाहती कुछ काल में ! ॥११०॥

१—आम।

पाया हमीं से था कभी जो बीज वर विज्ञान का,
उसको दिया है दूसरों ने रूप रम्योद्यान का।
हम किन्तु खो बैठे उसे भी जो हमारे पास था,
हा! दूसरों की वृद्धि में ही क्या हमारा ह्रास था!॥१११॥

राष्ट्रभाषा

है राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश में कोई नहीं,
हम निज विचार जना सकें जिससे परस्पर सब कहीं।
इस योग्य हिन्दी है तदपि अब तक न निज पद पा सकी,
भाषा बिना भावैकता अब तक न हममें आ सकी!॥११२॥

यों तो स्वभाषा-सिद्धि के सब प्रान्त हैं साधक यहाँ,
पर एक उर्दूदाँ अधिकतर बन रहे बाधक यहाँ।
भगवान जाने देश में कब आयगी अब एकता,
हठ छोड़ दो हे भाइयो! अच्छी नहीं अविवेकता॥११३॥

स्त्री-शिक्षा

विद्या हमारी भी न तब तक काम में कुछ आयगी—
अर्द्धाङ्गियों को भी सु-शिक्षा दी न जब तक जायगी।
सर्वाङ्ग के बदले हुई यदि व्याधि पक्षाघात की—
तो भी न क्या दुर्बल तथा व्याकुल रहेगा वातकी?॥११४॥

समय की अनुकूलता

सुख-शान्ति मय सरकार का शासन समय है अब यहाँ,
सुविधा समुन्नति के लिए है प्राप्त हमको सब यहाँ।
अब भी न यदि कुछ कर सके हम तो हमारी भूल है,
अनुकूल अवसर की उपेक्षा हूलती फिर शूल है॥११५॥

है ब्रिटिश-शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गये,
स्वाधीन हैं हम धर्म्म में, सब भय हमारे भग गये।
निज रूप को फिर हम सभी कुछ कुछ लगे हैं जानने-
निज देश भारतवर्ष को फिर हम लगे हैं मानने ॥११६॥

आशा

बीती नहीं यद्यपि अभी तक है निराशा की निशा—
है किन्तु आशा भी कि होगी दीप्त फिर प्राची दिशा।
महिमा तुम्हारी ही जगत में धन्य आशे! धन्य है,
देखा नहीं कोई कहीं अवलम्ब तुम-सा अन्य है ॥११७॥

आशे, तुम्हारे ही भरोसे जी रहे हैं हम सभी,
सब कुछ गया पर हाय रे! तुमको न छोड़ेंगे कभी।
आशे, तुम्हारे ही सहारे टिक रही है यह मही,
धोखा न दीजो अन्त में, बिनती हमारी है यही ॥ ११८ ॥

यद्यपि सफलता की अभी तक सरसता चक्खी नहीं,
हम किन्तु जान रहे कि वह श्रम के विना रक्खी नहीं।
यद्यपि भयङ्कर भाव से छाई हुई है दीनता—
कुछ कुछ समझने हम लगे हैं किन्तु अपनी हीनता ॥११९॥

यद्यपि अभी तक स्वार्थ का साम्राज्य हम पर है बना—
पर दीखते हैं साहसी भी और कुछ उन्नतमना।
बन कर स्वयंसेवक सभी के जो उचित हित कर रहे,
होकर निछावर देश पर जो जाति पर हैं मर रहे ॥१२०॥

फैला निरुद्यम सब कहीं, हैं किन्तु ऐसे भी अभी—
जिनका उपार्जन भोगते हैं देशवासी जन सभी।

यद्यपि अधिक जन भाग्य को ही कोसते हैं क्लेश में—
उच्चाभिलाषी वीर भी हैं किन्तु कुछ कुछ देश में ॥ १२१॥

है हीन शिक्षा की दशा पर दृष्टि उस पर भी गई,
फैला रहा है धूम हिन्दू-विश्व-विद्यालय नई।
श्री मालवीय-समान नेता, भूप मिथिलेश्वर-यथा,
देशार्थ भिक्षुक बन रहे है, धन्य हैं वे सर्वथा ॥१२२॥

आदर्श

यद्यपि कृपण कि अपव्ययी ही हैं धनी मानी यहाँ,
सत्कार्य्य में सर्वस्व के भी किन्तु हैं दानी[1] यहाँ,
देशी नरेशों की दशा यद्यपि अभी बदली नहीं,
पर सर सयाजीराव-सम आदर्श नृप भी हैं यहीं ॥१२३॥

यद्यपि समय के फेर ने वे दिव्य गुण छोड़े नहीं,
हैं किन्तु अब भी देश में आदर्श कुछ थोड़े नहीं।
यदि जन्म लेते थे महात्मा भीष्म-तुल्य कभी यहाँ,
तो जन्मते हैं कुछ दृढ़व्रत लोकमान्य अभी यहाँ ॥१२४॥

श्री राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती,
उत्पन्न करती है अभी यह मेदिनी ऐसे वती।
साफल्यपूर्वक हैं जिन्होंने स्वमत-संस्थाएँ रची,
है धूम सारे देश में जिनके विचारों से मची ॥१२५॥

श्री रामकृष्णोपम महात्मा, रामतीर्थोपम यती,
ऐसे जनों से आज भी यह भूमि बनती वसुमती।

1—जैसे सर तारकनाथ पालित।

द्विजवर्य्य ईश्वरचन्द्र-सम होते दयासागर यहीं,
देवेन्द्रनाथ-समान ऋषि अन्यत्र मिल सकते नहीं ॥१२६॥

राजेन्द्रलाल-समान विद्वद्रत्न होते हैं यहाँ,
जगदीश और प्रफुल्ल-सम विज्ञानवेत्ता हैं कहाँ ?
प्राचीन विषयज्ञान में भाण्डारकर से ज्ञात हैं,
गणतज्ञ बापूदेव, बार्हस्पत्य-सम विख्यात हैं ॥१२७॥

नीतिज्ञ दिनकर और माधवराव-सम सम्मान्य हैं,
क़ानून के विद्वान डाक्टर घोष-तुल्य वदान्य हैं।
श्री गोखले, गाँधी-सदृश नेता महा मतिमान हैं,
वक्ता विजय-घोषक हमारे श्री सुरेन्द्र-समान हैं ॥१२८॥

निज शक्ति भारत-भूमि ने अब भी सभी खोई नहीं,
सत्कवि रवीन्द्र-समान अब भी विश्व में कोई नहीं।
अवनीन्द्र, रविवर्म्मा-सदृश हैं चित्रकर होते यहीं,
प्रख्यात हैं श्री म्हातरे-सम मूर्तिकार सभी कहीं ॥१२९॥

गायक पलुसकर, सत्यबाला-तुल्य होते हैं अभी,
वादनकला पर मूढ़ पशु भी भूलते सुध-बुध सभी।
खरशस्त्र-धारों पर यहाँ होता अभी तक नृत्य है,
करता विमुग्ध विदेशियों को ललित कौशल कृत्य है ॥१३०॥

दिन दिन नये आदर्श बहु विध हीनता को हर रहे,
हैं माइसोर-समान देशी राज्य उन्नति कर रहे।
सब प्रान्त मिलकर प्रेमपूर्वक योग देते हैं जहाँ,
हैं बन रहीं देशोपकारक सभ्य-संस्थाएँ यहाँ ॥१३१॥

प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है,
अब भी हमारी अस्ति है यद्यपि अवस्था शोच्य है।
कर्तव्य करना चाहिए, होगी न क्या प्रभु की दया,
सुख-दुःख कुछ हो, एक-सा ही सब समय किसका गया?॥१३२॥

विश्वास

सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ़ मूल है—
इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है।
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायँगे,
वे दिन यहाँ फिर आयँगे, फिर आयँगे, फिर आयँगे॥१३३॥

विश्राम

री लेखनी! बस बहुत है, अब और बढ़ना व्यर्थ है,
है यह अनन्त कथा तथा तू सर्वथा असमर्थ है!
करती हुई शुभकामना निज वेग सविनय थाम ले,
कहती हुई "जय जानकीजीवन" तनिक विश्राम ले॥१३४॥

शुभकामना

सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त-प्रवाह हो,
गुण, शील, साहस, बल तथा सबमें भरा उत्साह हो।
सबके हृदय में सर्वदा समवेदना का दाह हो,
हमको तुम्हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो॥१३५॥

विद्या, कला, कौशल्य में सबका अटल अनुराग हो,
उद्योग का उन्माद हो, आलस्य-अघ का त्याग हो।
सुख और दुख में एक-सा सब भाइयों का भाग हो,
अन्तःकरण में गूँजता राष्ट्रीयता का राग हो॥१३६॥

कठिनाइयों के मध्य अध्यवसाय का उन्मेष हो,
जीवन सरल हो, तन सबल हो, मन विमल सविशेष हो।
छूटे कदापि न सत्य-पथ निज देश हो कि विदेश हो,
अखिलेश का आदेश हो जो बस वही उद्देश हो ॥१३७॥

आत्मावलम्बन हो हमारी मनुजता का मर्म हो,
षड्रिपुसमर के हित सतत चारित्र्यरूपी वर्म्म हो।
भीतर अलौकिक भाव हो, बाहर जगत का कर्म्म हो,
प्रभु-भक्ति, पर-हित और निश्छल नीति ही ध्रुव धर्म्म हो॥१३८॥

उपलक्ष के पीछे कभी विगलत न जीवन-लक्ष हो,
जब तक रहें ये प्राण तन में पुण्य का ही पक्ष हो।
कर्तव्य एक न एक पावन नित्य नेत्र-समक्ष हो,
सम्पत्ति और विपत्ति में विचलित कदापि न वक्ष हो ॥१३९॥

उस वेद के उपदेश का सर्वत्र ही प्रस्ताव हो,
सौहार्द और मतैक्य हो, अविरुद्ध मन का भाव हो।
सब इष्ट फल पावें परस्पर प्रेम रखकर सर्वथा,
निज यज्ञ-भाग समानता से देव लेते हैं यथा ॥१४०॥

तथास्तु

विनय

(सोहनी)

इस देश को हे दीनबन्धो ! आप फिर अपनाइए,
भगवान् ! भारतवर्ष को फिर पुण्य-भूमि बनाइए।
जड़-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा-पूर्ण है,
हे रम्ब ! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए॥
हम मूक किं वा मूढ़ हों, रहते हुए तुझ शक्ति के !
माँ ब्राह्मि, कह दे ब्रह्म से सुख-शान्ति फिर सरसाइए।
सर्वांत्र बाहर और भीतर रिक्त भारत हो चुका,
फिर भाग्य इसका हे विधाता ! पूर्व-सा पलटाइए॥
तू अन्नपूर्णा माँ ! रमा है और हम भूखों मरें !
कह दे जनार्दन से जगाकर दैन्य-दुःख मिटाइए।
यह सृष्टि-गौरव-गज-ग्रसित है ग्रह-दशा के ग्राह से,
हे भक्तवत्सल ! शुभ सुदर्शन चक्र आप चलाइए॥
माँ शङ्करी ! सन्तान तेरी हाय ! यों निरुपाय हो,
श्रीकण्ठ से कह दे कि हे हर, अब न और सताइए।
शून्य श्मशान-समान भारत हाय ! कब से हो चुका,
आकर कराल विपत्ति-विष से व्योमकेश, बचाइए॥
सम्पूर्ण गुण-गौरव-रहित हम पतित अवनत हो चुके,
अब छोड़ निर्गुणता विभो, सत्वर सगुण बन जाइए।
सीतापते ! सीतापते !! यह पाप-भार निहारिए,
अवतीर्ण होकर धर्म्म का निज राज्य फिर फैलाइए॥

गोपाल ! अब वह चैन की वंशी बजेगी कब यहाँ ?
आलस्य से अभिभूत हमको कर्म्मयोग सिखाइए ।
जिस वसुमती पर आपने बहु ललित लीलाएँ रचीं,
करुणानिधे ! इस काल उसको आप यों न भुलाइए ॥
पशु-तुल्य परवशता मिटे; प्रकटे यथार्थ मनुष्यता,
इस कूपमण्डूकत्व से परमेश, पिण्ड-छुड़ाइए ।
जीवन गहन वन-सा हुआ है, भटकते हैं हम जहाँ,
प्रभुवर ! सदय होकर हमें सन्मार्ग पर पहुँचाइए ॥
वह पूर्व की सम्पन्नता, यह वर्तमान विपन्नता,
अब तो प्रसन्न भविष्य की आशा यहाँ उपजाइए ।
वर मन्त्र जिसका मुक्ति था, परतन्त्र, पीड़ित है वही,
फिर वह परम पुरुषार्थ इसमें शीघ्र ही प्रकटाइए ॥
यह पाप-पूर्ण परावलम्बन चूर्ण होकर दूर हो,
फिर स्वावलम्बन का हमें प्रिय पुण्य पाठ पढ़ाइए ।
"व्याकुल न हो, कुछ भय नहीं, तुम सब अमृत-सन्तान हो ।"
यह वेद की वाणी हमें फिर एक वार सुनाइए ॥
यह आर्य्य-भूमि सचेत हो, फिर कार्य्य-भूमि बने अहा !
वह प्रीति-नीति बढ़े परस्पर, भीति-भाव भगाइए ॥
किसके शरण होकर रहें ? अब तुम विना गति कौन है ?
हे देव वह अपनी दया फिर एक बार दिखाइए ॥

शुभम्

हिन्दी के ख्यातनामा कवि
श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त कृत नवीन काव्य—

हिन्दू

गुप्तजी का भारत-भारती नामक प्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य हिन्दी भाषा-भाषियों ने बड़े प्रेम और आदर के साथ अपनाया है। उन्हीं की ज़ोरदार लेखनी से यह "हिन्दू" नामक काव्य लिखा गया है। इस में हिन्दुओं को उठ खड़े होने के लिए जो उत्तेजन दिया गया है वह बहुत प्रभाव-शाली है। पुस्तक के अन्त में कुछ गीत दिए गये हैं, वे भी भाव, भाषा और ओज में अतुलनीय हैं। उत्सव, संकीर्तन, और सभा आदि सामूहिक कार्यों में इन गीतों के द्वारा एक नई ही बात पैदा हो सकती है। यह काव्य हिन्दुओं की दुर्बलता दूर करने के लिए,—उन्हें फिर से सशक्त और संगठित करने के लिए—बहुत बड़ी सहायता देगा। हिन्दुओं के संगठन के लिए आज तक जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उन सब में इस ग्रन्थ का आसन बहुत ऊँचा है। जो गुप्तजी की चमत्कारिणी लेखनी से परिचित हैं उनसे इसके विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। आप स्वयं इसे पढ़िए और अपने इष्ट मित्रों में इसका प्रचार कीजिए। इस वाणी का जितना अधिक प्रचार होगा, देश और हिन्दू जाति का उतना ही अधिक उपकार होगा।

पुस्तक नेत्र-रञ्जक पाकेट साईज में है। पृष्ठ-संख्या भी ३७५ से अधिक है। मूल्य सजिल्द १) विशिष्ट संस्करण १।)

पता—प्रबन्धक,

साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

मेघनाद-वध

[मूल्य सुन्दर रेशमी जिल्दयुक्त ३॥)]

आधुनिक समय के भारतीय सफल साहित्यकों में से बंगाल के महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्हीं के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य "मेघनाद-वध" का यह हिन्दी पद्यानुवाद हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है। इसके विषय में आचार्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी लिखते हैं—

"मेघनाद-वध का कुछ अंश छपा हुआ मैं पहले भी देख चुका हूँ। कल दिन भर उसकी सैर की। बड़ा आनन्द आया। मूल मेरा पढ़ा हुआ है, उसकी अपेक्षा मुझे यह अनुवाद अधिक पसन्द आया। ओज की यथेष्ट रक्षा हुई है, शब्द-स्थापना का क्या कहना है।"

सुप्रसिद्ध बङ्गाली विद्वान्,
मूल मेघनाद-वध महाकाव्य के प्रतिष्ठित टीकाकार,
श्रीज्ञानेन्द्रमोहनदास की सम्मति का सारांश—

अनुवादक कवि इस क्षेत्र में निस्सन्देह पहले व्यक्ति हैं। उन्होंने बँगला के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य का हिन्दी कविता में विद्वत्ता पूर्ण और अविकल अनुवाद करके हिन्दी-संसार में एक नवीन कार्य किया है। उनकी सर्वतोन्मुखी लेखनी ने बँगला और संस्कृत ज्ञान से विभूषित होकर जो सफलता प्राप्त की है वह हमारी बधाई और अपरिसीम प्रशंसा की पात्र है। उनकी विरहिणी व्रजाङ्गना सङ्गीत और भाषा सौष्ठव की दृष्टि से मूल की भाँति ही मधुर और निर्दोष है। उनका वीराङ्गना और मेघनाद-वध नामक बँगला काव्यों का मिल्टन की जोड़ का ओज पूर्ण और यथावत् हिन्दी अनुवाद हिन्दी संसार के लिये एक अभावनीय वस्तु है। उसमें उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है।

वीराङ्गना

यह भी मधुसूदनदत्त के "वीराङ्गना" नामक बँगला काव्य का हिन्दी-पद्यानुवाद है। इस काव्य में भी "मेघनाद-वध" महाकाव्य के अनेक गुण हैं। सुन्दर रेशमी जिल्द। मूल्य १)

विरहिणी व्रजाङ्गना

बंगाल के महाकवि मधुसूदनदत्त के "व्रजाङ्गना" नामक काव्य का सुन्दर पद्यानुवाद। विरहिणी राधिका के मनोभावों का इसमें बड़ा ही हृदय-ग्राही वर्णन है। चतुर्थ संस्करण। मूल्य ।)

स्वदेश-सङ्गीत

इसमें गुप्तजी की लिखी हुई भिन्न भिन्न विषयों पर बहुत भाव पूर्ण और ओजोमय राष्ट्रीय कविताएँ हैं। मूल्य ।।।)

पञ्चवटी

यह काव्य रामायण के एक अंश को लेकर लिखा गया है। कवि ने इसमें जिस सौंदर्य्य की सृष्टि की है, वह बहुत ही मनोमोहक है मूल्य ।=)

अनघ

श्रीमैथिलीशरण गुप्त लिखित रूपक काव्य। इसका कथानक बौद्ध जातक से लिया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म में जो ग्राम्य सङ्गठन और नेतृत्व किया था, इसमें उसका विशद-वर्णन है। यह ग्रन्थ हिन्दी में बिलकुल नये ढँग का है, अवश्य पढ़िये। मू० ।।।)

भारत-भारती

इसमें भारत के अतीत गौरव और वर्तमान पतन का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन है। इसका अध्ययन आपको देशभक्ति के पवित्र पथ की ओर अग्रसर करने में सहायक होगा। हिन्दू-विश्व-विद्यालय में यह पुस्तक बी० ए० के कोर्स में है। मूल्य १) और सुन्दर जिल्ददार १॥)

अन्य काव्य-ग्रन्थ

जयद्रथ-वध—वीर और करुण रस का अद्वितीय खण्डकाव्य ॥) सजिल्द

रङ्ग में भङ्ग—मनोहर ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)

चन्द्रहास—भावपूर्ण नवीन पौराणिक नाटक ।॥)

तिलोत्तमा—गद्य-पद्य-मय सरस पौराणिक नाटक ॥)

शकुन्तला—शकुन्तला नाटक के अधार पर निराली रचना ।=)

किसान—एक किसान की करुण कथा का हृदयद्रावक वर्णन ।=)

पत्रावली—ओजस्वी ऐतिहासिक कविता-पुस्तक ।-)

वैतालिक—भारत की जागृति पर कोमल-कान्त पदावली ।)

पलासी का युद्ध—बँगला के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य का पद्यानुवाद १

मौर्य्य-विजय—वीर रस-प्रधान ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)

अनाथ—आधुनिक कथा मूलक खण्डकाव्य ।)

साधना—भावमूलक विलक्षण गद्यकाव्य १)

संलाप—राय कृष्णदास रचित गद्य काव्य ।=)

मेघदूत—मेघदूत का मनोरम पद्यानुवाद ।)

सुमन—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की फुटकर कविताओं का संग्रह

अजातशत्रु—श्रीजयशङ्कर 'प्रसाद' रचित प्रसिद्ध नाटक १)

आँसू—'प्रसाद' जी की नई रचना ।)

प्रतिध्वनि—'प्रसाद' जी की छोटी छोटी कहानियों का सङ्ग्रह ।=)

परिचय—नवीन कवियों की चुनी हुई कविताओं का सङ्ग्रह १)

स्थायी ग्राहकों को विशेष सुविधा।

स्थायी ग्राहक बनिए।

प्रबन्धक,—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)